भगवद्गीता भाष्य

भगवद्गीता का हिन्दी भाष्य छपना आरम्भ होगया है । भाष्य का प्रकार यह है—पहले मूल श्लोक—फिर एक २ पद का अर्थ—फिर अन्वयार्थ—उसके पीछे उसका तात्पर्य । इस रीति पर व्याख्या करने से संस्कृत न जानने वालों को भी गीता का गम्भीर तात्पर्य जानने के साथ ही साथ संस्कृत का बोध भी होता जाएगा । जहां आचार्यों का परस्पर भेद है, वह भी टिप्पणी में, दिखलाया गया है । जिन २ श्लोकों की जिस २ उपनिषद्वाक्य वा मन्त्र के साथ समता है, वह भी दिखलाई गई है ।

संस्कृत गीता के अपने शब्दों में एक बड़ा उमंग और उत्साह भरा हुआ है, जो चित्त को एक दम उभार लेता है । इस बात के लिये हमने पूरा प्रयत्न किया है, कि उलथे में भी वही उमंग और उत्साह भर जाए तथा गीता के उदार और गम्भीर भावों को अलग २ खोलने से और अनेक प्रकार के सूचीपत्रों से ग्रन्थ को बड़ा सुगम और चमत्कार वाला बनाया गया है ॥

जो महानुभाव आर्षग्रन्थावलि के ग्राहक पहले हैं, वा अब बनेंगे, या जिनकी दरख्वास्त के साथ एक रुपया अगाऊ आजाएगा, उनको मूल्य में बहुत रिआयत होगी । पत्र व्यवहार इस पते पर करो ।

मैनेजर
आर्षग्रन्थावलि, लाहौर ।

कार्यालय आर्षग्रन्थावलि की विक्रेय पुस्तकें

यदि संस्कृत के अनमोल रत्नों को थोड़े मूल्य में और आसानी से पाना चाहते हो, तो कार्यालय आर्षग्रन्थावलि में दरख्वास्त

नवदर्शन संग्रह की सूची।

भूमिका।

(विज्ञानमात्रास्तित्ववादी)
योगाचार

(सर्वशून्यवादी)—माध्यमिक बौद्ध

(३) आर्हतदर्शन—जैनदर्शन।

(४) वैशेषिक-दर्शन।

गुणों का निरूपण

(५)—न्याय-दर्शन

आठवां मीमांसा दर्शन

नवां—वेदान्तदर्शन।

॥ नवदर्शन-संग्रह ॥

भूमिका ।

(१) दर्शनों के दो भेद वैदिक और अवैदिक ।

आर्यावर्त की तर्कविद्या में छः दर्शन प्रसिद्ध हैं, जिनमें वेदों को प्रमाण माना है, और वेदोक्त सिद्धान्तों पर तर्क से विचार किया है, अतएव इनको वेदों के उपांग कहते हैं । इनसे अतिरिक्त तीन दर्शन और हैं, जिनमें न वेदों को प्रमाण माना है, न वेदोक्त सिद्धान्तों पर विचार किया है, प्रत्युत आक्षेप किये हैं, और अपने २ स्वतन्त्र सिद्धान्तों को तर्क से स्थापन किया है । इस दृष्टि से दर्शनों के दो भेद होजाते हैं, वैदिक और अवैदिक ।

(२) वैदिक दर्शन ।

वैदिक छः दर्शन यह हैं-वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ।

(३) अवैदिक-दर्शन ।

अवैदिक तीन दर्शन यह हैं-चार्वाक, बौद्ध और आर्हत ।

(४) नास्तिक और आस्तिकदर्शन ।

इनमें से चार्वाकदर्शन, नास्तिकदर्शन है, क्योंकि उसमें परलोक को नहीं माना है, शेष सारे दर्शन आस्तिकदर्शन हैं, क्योंकि उनमें परलोक को माना है । पर वैदिक लोगों की दृष्टि से बौद्ध और आर्हत भी नास्तिकदर्शन ही हैं, क्योंकि वह वेदबाह्य हैं, और वेद के निन्दक हैं ।

इस पुस्तक में इन दर्शनों का क्रम यह रहेगा, पहले अवैदिक,

(५) इस पुस्तक में दर्शनों का क्रम।

फिर वैदिक, क्योंकि अवैदिकदर्शन वैदिक-दर्शनों के पूर्वपक्षी हैं, और वैदिकदर्शन सिद्धान्त के स्थापक हैं। अवैदिकों में भी पहले नास्तिक फिर आस्तिक, क्योंकि नास्तिक सब का पूर्वपक्षी है। और वैदिकदर्शनों में जो क्रम है, वह उनके विषय की अपेक्षा से है, न कि पूर्वपक्ष की अपेक्षा से, क्योंकि वह सभी सिद्धान्त के व्यवस्थापक हैं।

(१) चार्वाकदर्शन—लोकायतदर्शन।

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक और उसका विश्वास।

इस मत का प्रवर्तक **बृहस्पति** हुआ है। बृहस्पति का विश्वास था, कि जो कुछ है, यही लोक है, इसलिये इसी की चिन्ता करनी चाहिये, और इसी को सुखदायी बनाना चाहिये, परलोक के लिये व्यर्थ व्यय और व्यर्थ परिश्रम नहीं उठाना चाहिये। इस विश्वास को लेकर उसने अर्थ और काम कोही पुरुषार्थ मानकर धर्म और मोक्ष के विषयों का खण्डन किया है।

प्रमाण निर्णय।

(२) प्रत्यक्ष प्रमाण का स्थापन।

प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, क्योंकि यथार्थज्ञान के साधन केवल इन्द्रिय ही हैं। इन्द्रिय पांच बाहर हैं, और एक अन्दर। नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा बाह्य इन्द्रिय हैं, और मन अन्तरिन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रियों से बाहर का अनुभव होता है, और अन्तरिन्द्रिय से अन्दर का। नेत्र से रूप, श्रोत्र से शब्द, घ्राण से गन्ध, रसना से रस और त्वचा से स्पर्श का अनुभव होता है। और मन से सुख दुःख का वा इच्छा द्वेष प्रयत्न और ज्ञान का। बस इतना ही अनुभव है, यहां तक ही हमारे इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध है, इसीको **प्रत्यक्ष**

कहते हैं, यही **प्रमाण** है। जिस ज्ञान में इन दोनों प्रकार के इन्द्रियों में से किसी का भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं, वह प्रमाण नहीं होसक्ता। क्योंकि सीधा सम्बन्ध न होने के कारण वह एक सम्भावनामात्र है, न कि निश्चित यथार्थज्ञान, अतएव वह प्रमाण नहीं।

(२) अनुमान का खण्डन।

अनुमान का सारा निर्भर इस बात पर है, कि हम जिन दो पदार्थों को एकसाथ देखते रहते हैं, उनमें से एक को देखकर दूसरे का उसके साथ होना निश्चय कर लेते हैं, जैसे धूम को देखकर अग्नि का निश्चय कर लेते हैं। पर यह निर्भर कैसा कच्चा है, भला जब अग्नि एक अलग पदार्थ है, और धूम एक अलग, तो फिर यह नियम कैसे होसक्ता है, कि जहां धूम है, वहां अग्नि अवश्य होगी। जिन पदार्थों के मेल से धूम बना है, वह यदि विना अग्नि के उसी भान्ति किसी तरह मिल जाएं वा मिला दिये जाएं, तो विना अग्नि के धूम उत्पन्न होजाएगा। अथवा अग्निजन्य धूम को ही बन्द करके वहां लेजाकर छोड़दें, जहां अग्नि नहीं, तो वह धूम विना अग्नि के होगा। लो हम तुम को एक सुगम रीति बतलाते हैं—धूम को एक बड़ी मशक में भरलो, और अधिक सर्दी गर्मी से बचाने का उपाय करके उसका मुंह ऊपर रखकर एक तालाब में उतारदो, और मुंह खोलदो, धूम वहां से ज्यों का त्यों निकलने लगेगा। अब उस धूम को देखकर जो अग्नि का अनुमान करके वहां पहुंचेगा, वह ऐसी जगह पहुंचेगा, जहां यही नहीं, कि अग्नि है नहीं, बल्कि यदि वहां दूसरी जगह से लाकर भी रखी जाए, तौभी न रहे, और यदि वह अग्नि तापने के लिये गया हो, तो और भी ठिठुर जाए। अब बताओ उसको तुम्हारा अनुमान प्रमाण होगा, वा नहीं। देखो, यहां भी जो अंश प्रत्यक्ष का है वह यथार्थ है और जो अनुमान का है, वही अयथार्थ है, क्योंकि धूम तो है, और अग्नि नहीं है।

यही दशा सारे अनुमानों की है। और युक्ति इसमें यह है, कि अनुमान मन से होता है, न कि किसी बाह्य इन्द्रिय से। अग्नि का अनुमान नेत्र से नहीं होता, मन से होता है। अब मन बाह्यज्ञान में सदा बाह्य इन्द्रियों के अधीन होता है। मन अग्नि को इसलिये जानता है, कि नेत्र ने उसी दिखलाई है, यदि नेत्र न दिखलाता, तो मन कभी न जानता। क्योंकि "**परतन्त्रं बहिर्मनः**" मन बाहर (बाहर के विषयों में) परतन्त्र है। सो मन जब कि बाहर परतन्त्र है, तो नेत्र के अधीन ही अग्नि को देखसक्ता है, और अब जबकि नेत्र अग्नि को नहीं दिखला रहा, मन का अग्नि को जानना चालाक मन की चालाकीमात्र है, जो कभी २ पकड़ी भी जाती है। पर यह चालाकी ही है, प्रमाण नहीं बनसक्ती है, इसलिये अनुमान कोई प्रमाण नहीं।

(४) शब्द प्रमाण का खण्डन।

अनुमान की तरह **शब्द** भी प्रमाण नहीं होसक्ता, क्योंकि शब्द प्रमाण दूसरे के यथार्थज्ञान और यथार्थ कथन पर निर्भर रखता है। यदि कहने वाले ने ठीक जाना है, और ठीक कहा है, तो उस से दूसरे को भी यथार्थज्ञान होसक्ता है, पर इसमें क्या प्रमाण है, कि उसने यथार्थ ही जाना है, और यथार्थ ही कहा है। यह होसक्ता है, कि उसने ठीक न जाना हो, वा जानकर भी अयथार्थ कहा हो। यद्यपि उसने पहले कभी अयथार्थ न कहा हो, तथापि यह निश्चय कैसे होसक्ता है? कि वह अब भी यथार्थ ही कह रहा है। इसलिये शब्द भी प्रमाण नहीं होसक्ता है।

(५) उपमानादि का खण्डन।

उपमानादि और जितने प्रमाण वादियों से मानें गए हैं, वह अनुमान और शब्द के अन्तर्गत होजाते हैं, और यदि अलग भी मान लिये जाएं, तौ भी उनका निर्भर इन्हीं पर है, जब यही

प्रमाण नहीं, तो वह कैसे होसक्ते हैं।

(६) उपसंहार। इसलिये प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है।

प्रमेय निर्णय।

पृथिवी, जल, तेज और वायु, यह चार तत्व हैं, इन्हीं के मेल से पृथिव्यादि लोक बने हैं, और इन्हीं के मेल से तृण घास वृक्ष और देह उत्पन्न होते हैं। जो कुछ है, सब इन्हीं के मेल से बना है।

(७) चार तत्व और उनका कार्य।

जैसे परिणामविशेष से जौ आदि से मदशक्ति उत्पन्न होजाती है, इसी प्रकार देह के आकार में परिणत हुए इन तत्त्वों में चेतनता उत्पन्न होजाती है, और उनके नाश होने पर नाश होजाती है। सो चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है, अतएव "मैं मोटा हूं, मैं दुवला हूं" इत्यादि प्रतीति होती है, क्योंकि मोटा होना, दुवला होना, देह का धर्म है, इसलिये वही आत्मा है, अतिरिक्त नहीं। देह से अतिरिक्त आत्मा में कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है, प्रत्यक्ष से देह ही सिद्ध होता है, देहातिरिक्त कोई सिद्ध नहीं होता, और अनुमानादि प्रमाण ही नहीं।

(८) चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है।

जब देह ही आत्मा हुआ, तो वह मर कर न कहीं जाता है, न आता है, यहीं भस्म होजाता है, फिर परलोक कैसा?

(९) कोई परलोक नहीं।

कर्मों का साक्षी और फलदाता कोई ईश्वर नहीं। यदि कोई दण्ड देने वाला है, तो वह राजा ही है, तुम्हारा ईश्वर तो किसी को दण्ड देता कभी किसी ने देखा नहीं। सो यदि राजा को ईश्वर कहो, तब तो

(१०) कोई ईश्वर नहीं।

ठीक है,पर उसके सिवाय कोई ईश्वर नहीं, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं होसक्ता है।

परलोक के विषय में बृहस्पति ने कहा है—न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः। नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्चफलदायिकाः ॥ १ ॥ अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्। बुद्धिपौरुषहीनांनां जीविकाधातृनिर्मिता ॥२॥ पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति । स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्नहिंस्यते ॥३॥ मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् । गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ॥४॥ स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्रदानतः। प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥५॥ यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ ६॥ यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।कस्माद्भूयोन चायाति बन्धुस्नेह समाकुलः ॥ ७ ॥ ततश्चजीवनोपायो ब्रह्मणैर्विहितस्त्विह। मृतानां प्रेतकार्याणि नत्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥८॥

(११) परलोक के लिये कुछ भी कार्तव्य नहीं।

अर्थ—न स्वर्ग है, न मोक्ष है, न ही आत्मा परलोक में जानेवाला है, और न ही वर्ण और आश्रम आदिकों के कर्मफलदायक हैं॥ १ ॥ अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्डधारण, और भस्मलेपन*, यह ब्रह्मा ने

* जब भस्म लगाना भी धर्म का कार्य माना गया हो,तब धर्मसे लोगोंका मुँह फेरना स्वभाविक बात थी। इससे स्पष्ट है, कि नास्तिक मत के प्रादुर्भाव के समय वैदिकधर्म शुद्ध नहीं रहा था।

बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन लोगों की जीविका बनाई है ॥ २ ॥ ज्योतिष्टोम में मारा हुआ पशु यदि स्वर्ग को जाता है, तो यजमान अपने पिता को ही उसमें क्यों नहीं मार देता ॥ ३ ॥ मरे हुए प्राणियों का श्राद्ध यदि उनके लिये तृप्तिकारक हो, तो परदेश जाने वालों के लिये तोशा तय्यार करना व्यर्थ है ॥ ४ ॥ यदि स्वर्ग में स्थित पितर यहां दान से तृप्त होजाते हैं, तो महल पर बैठे हुओं के लिये यहां क्यों नहीं देते हो ॥५॥ सो जब तक जीवे, सुखी जीवे, ऋण लेकर भी घी पीवे, भस्म हुए देह का फिर आना कहां ॥ ६ ॥ यदि यह देह से निकलकर परलोक को जाए, तो फिर वह बन्धुओं के स्नेह से घबराया हुआ वापिस क्यों नहीं आजाताहै ॥७॥ इसलिये मरे हुए के लिये प्रेतकर्म करना ब्राह्मणों ने अपने जीवन का उपाय बनाया है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है ॥ ८ ॥

(१२) जगत् की विचित्रता में अदृष्ट कारण नहीं।

यहां जो, कोई राजा कोई रंक है, कोई रोगी कोई नीरोग है, कोई दुर्बल कोई बलवान् है, कोई बुद्धिहीन कोई बुद्धिमान् है, और कोई पशु कोई मनुष्य है, इत्यादि विचित्रताहै, इसमें प्राणियों के अदृष्ट कारण नहीं, किन्तु यह सारी विचित्रता स्वभाव से ही है—"अग्निरुष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथाऽनिलः। केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः"= अग्नि गर्म है, जल ठण्डा है, और वायु शीतस्पर्शवाला है, यह किसने विचित्रता की है? (किसी ने नहीं) इसलिये स्वभाव से इनकी यह व्यवस्था है।

(१३) ऐहिक सुख ही पुरुषार्थ है।

जब देह ही आत्मा है, और उसके लिये यही लोक है। तो यहां का सुख ही हमारा उद्देश्य होना चाहिये। इसलिये—"यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्तिमृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देह-

स्य पुनरागमनं कुतः"=जब तक जिये,सुखसे जिये,मृत्यु से तो बचाव नहीं, और जब देह भस्म होगया, तो फिर आना कहां॥ सो ऐहिकसुख को पुरुषार्थ मानकर उसीके बढ़ाने में यत्न करना चाहिये। यह नहीं समझ बैठना चाहिये, कि यहां का सुख दुःख से मिला हुआ है, इसलिये यह ग्रहण करने योग्य ही नहीं, किन्तु, दुःख का परिहार करके सुख का ग्रहण करते जाना चाहिये, न कि दुःख के भय से सुख कोही छोड़ देना चाहिये। क्या कभी ऐसा होता है, कि हरिण हैं, इस डर से कोई धान ही न बोए, वा भिखारी हैं, इस डर से भोजन ही न बनाए। इसी प्रकार दुःख के डर से सुख का परित्याग नहीं कर देना चाहिये, जैसाकि कहा है—"त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा। ब्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान् को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी"=विषयों के संग से उत्पन्न होने वाला सुख,दुःख से मिला हुआ होता है,इसलिये वह त्याग के योग्य है, ऐसा विचार मूर्खों का है। भला कौन अपना हित चाहने वाला पुरुष श्वेत उत्तम चावलों से भरे हुए धान को इस डर से छोड़ना चाहता है, कि वह तुषों से ढपे हुए हैं॥ जैसे तुषों को अलग करके चावल खाए जाते हैं,वैसे दुःखों को हटाकर सुखों का उपभोग करना चाहिये यही बुद्धिमत्ता है।

(१४) उपसंहार।

सो यहां ही स्वर्ग, यहां ही नरक और यहां ही मोक्ष है। ऐश्वर्य ही स्वर्ग है, कांटे आदि से उत्पन्न होने वाला दुःख ही नरक है। देह का नाश ही मोक्ष है। जो कुछ है बस यही है। न कोई परलोक है, न उसके लिये कोई धर्म है। धर्म की बातें लोगों ने अपनी जीविका के लिये बनाली हैं।

इस मिथ्या अध्यास को छोड़ो और लोक के सुख से वञ्चित मत रहो। अर्थशास्त्र के अनुसार कमाओ, कामशास्त्र के अनुसार भोगो, और नीतिशास्त्र के अनुसार वर्ताव करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है, यही परमपुरुषार्थ है। और सच तो यह है, कि कहने में चाहे कुछ ही कहो, पर करने में तो हमारा ही मत फैला हुआ है। देखलो लोगों को, वह डरते किस से हैं, राजा से, वा ईश्वर से। और किस की चिंता में लगे रहते हैं, लोक की वा परलोक की। और अपना आप किस को समझते हैं, शरीर को वा अलग किसी आत्मा को। वस कथन में चाहे आत्मा, परलोक और ईश्वर की पुकार मचालो, पर करने में तुम भी हमारे साथ ही मिल जाते हो, अतएव हमारा मत **लोकायत** =लोक में फैला हुआ है।

(२) बौद्ध-दर्शन।

(१) इस मत का प्रवर्तक।

इस मत का प्रवर्तक **शाक्यमुनि गौतम** हुआ है, जिसने बहुत बड़ी तपश्चर्या और ज्ञान के अनन्तर **बुद्ध** की पदवी लाभ की। इसी पद के नाम से उसके मत का नाम **बौद्ध** है।

(२) बुद्ध का विश्वास।

महात्मा बुद्ध का विश्वास था, कि बाहर के आडम्बर सब मिथ्या हैं, धर्म आत्मा की वस्तु है, और वह सब के लिये एक जैसी है। उसमें जातपात का कोई भेद नहीं, और वस्तुतः जातपात का कोई भेद ही नहीं, सब मनुष्य एक जैसे हैं, जो जैसा करता है, वैसा बनता है। मनुष्य को सदा सब के लिये शिवसङ्कल्प होना चाहिये, केवल मनुष्य के लिये ही नहीं, किन्तु प्राणिमात्र के लिये, इसीमें उसका अपना कल्याण है। **अहिंसा** (किसी को पीड़ा न पहुंचाना) परमधर्म है, पशुओं का

वलिदान पाप है। इस जगत् में सब कुछ अस्थायी है, तृष्णा दुःख का मूल है। तृष्णा को काटने से **निर्वाण** (मोक्ष) मिलता है।

(३) बौद्धों के चार भेद।

बुद्धदेव के पीछे जब उनकी शिक्षापर दार्शनिक विचार उठे, तो बौद्धों के यह चार भेद हुए—**सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार,** और **माध्यमिक***।

(४) भेद का विषय।

भेद का विषय बाह्य अर्थ (बाहर के पदार्थ) और विज्ञान है। चारों के मत में विज्ञान ही आत्मा है। इन में से **सौत्रान्तिक** और **वैभाषिक** दोनों बाहर की वस्तुओं को भी मानते हैं। पर **योगाचार** केवल विज्ञान को मानते हैं, और बाहर की वस्तुओं से इन्कार कर देते हैं, और **माध्यमिक** सब कुछ शून्य ही मानते हैं।

(५) भेद का हेतु।

बुद्धदेव ने अपने उपदेशों में जो जगत् को क्षण २ में बदलने वाला और मिथ्या कहा है, और विज्ञान की धारा को चित्त का अभिज्वलन (जलना, चमकना) मानकर मोक्ष को उसका निर्वाण (बुझना) माना है, इसका तात्पर्य समझने में और व्यवस्था करने में चारों का भेद हुआ है।

(६) भेद की व्यवस्था।

सौत्रान्तिक और **वैभाषिक** कहते हैं, कि विना बाह्य अर्थों के उनका ज्ञान हो नहीं सक्ता, इसलिये बाह्य अर्थ भी हैं, और क्षणभंगुर होने से स्वप्नवत् मिथ्या कहे हैं। और **योगाचार** मानते हैं, कि वस्तुतः मिथ्या ही हैं,

---

* सिद्धन्त चन्द्रोदय में प्रसिद्ध भेद अठारह और उपभेद बहुत से कहे हैं, पर दार्शनिक विचार में उपर्युक्त चार ही भेद बन सक्ते हैं॥

मिथ्या की भी प्रतीति स्वप्न की नाई होती है । पर वस्तुतः यह विज्ञान के ही आकार हैं । अब मुक्ति में तीनों का यह मत है, कि रागद्वेषादि जो वासनाएं हैं, इन से चित्त का अभिज्वलन होता है, इन वासनाओं का उच्छेद ही निर्वाण (बुझना) है, न कि विज्ञान की धारा का बुझना । पर माध्यमिक मानते हैं, कि विज्ञान की धारा भी बुझ जाती है। तब वह सारी व्यवस्था इस तरह पर करते हैं—हीन मध्यम और उत्कृष्ट बुद्धिवाले शिष्य होते हैं । उनमें से जो हीनमति वाले थे, उनको भगवान् बुद्ध ने उनकी वासना के अनुसार सर्वास्तित्ववाद के द्वारा शून्यता में उतारा है । पर जो मध्यम बुद्धिवाले थे, उनको ज्ञानमात्र के अस्तित्व से शून्यता में उतारा है । और जो उत्कृष्ट बुद्धिवाले थे, उनको साक्षात् ही शून्यता तत्त्व का प्रतिपादन किया है। जैसाकि बोधिचित्तविवरण में कहा है:—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः ।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः ॥ १ ॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा ।
भिन्नाऽपि देशनाऽभिन्नाशून्यताऽद्वयलक्षणा ॥ २ ॥

अर्थ—बुद्धों के आगम शिष्यों के चित्त के अनुसार (शून्यता का निश्चय कराने के लिये) बहुत से उपायों से लोक में अनेक भेद वाले होते हैं ॥ १ ॥ गहराई, और ऊपर की तह के भेद से दो (ज्ञानमात्रास्तित्व और बाह्यार्थास्तित्व) स्वरूपों वाला आगम (शून्यतावाद से) भिन्न हुआ भी शून्यतारूप अद्वैत लक्षणवाला है (अर्थात् ज्ञानमात्रास्तित्ववाद और बाह्यार्थास्तित्ववाद का भी तात्पर्य शून्यता में ही है)॥ २ ॥

प्रत्यक्ष और **अनुमान** यह दो प्रमाण हैं, क्योंकि इन दोनों से यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान **प्रत्यक्ष** है, पर लोक में जिस को प्रत्यक्ष कहते हैं, वह प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान होता है। जैसे वृक्ष को देखकर "यह वृक्ष है" जो ज्ञान हुआ है, लोक में इसको प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्ष उतनामात्र है, जिस में वृक्ष की कल्पना नहीं, अर्थात् यह नहीं जाना, कि "यह वृक्ष है" किन्तु उसका आलोचनमात्र हुआ है। "यह वृक्ष है" ऐसा ज्ञान तब होता है, जब वृक्षत्वजाति और उस जाति की व्यञ्जक आकृति का सम्बन्ध उस दृश्यमान वस्तु में कल्पना करलिया जाता है। इस कल्पना से पहले जो ज्ञान हुआ है, जिसमें दृश्यमान वस्तु अभी किसी सम्बन्धवाली नहीं प्रतीत हुई, वह कल्पनाऽपोढ़* ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसके पीछे जो वृक्ष की कल्पना वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान है।

(७) प्रत्यक्ष प्रमाण।

दूसरा प्रमाण **अनुमान** है, जहां अविनाभाव (उसके विना न होने) का नियम पाए जाए, वहां अनुमान होता है। और अविनाभाव का नियम तदुत्पत्ति (उससे उत्पन्न होना) और तादात्म्य (तत्स्वरूप होना) इन दो हेतुओं से जाना जाता है। तदुत्पत्ति में जैसे, धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है, इसलिये अग्नि के साथ उसके अविनाभाव का नियम है, अर्थात् वह कभी अग्नि के विना नहीं होसक्ता, इसलिये धूम से अग्नि का अनुमान होता है। तादात्म्य में जैसे, गोत्व पशुत्व के विना नहीं होसक्ता, इसलिये गोत्व से पशुत्व का अनुमान होता है। इसलिये

(८) अनुमान प्रमाण।

* कल्पनाऽपोढ़, बौद्धों का शब्द है, अर्थात् कल्पना से रहित, निर्विकल्पक।

कार्य अपने कारण का और तत्स्वरूप अपने व्यापकस्वरूप का अनुमान कराता है, यह सिद्ध है। जो अनुमान को प्रमाण नहीं मानता है, उसके प्रति यह प्रश्न है, कि क्या "अनुमान प्रमाण नहीं" तुम्हारी इस प्रतिज्ञा (दावे) का साधक कोई साधन (हेतु) है, वा नहीं। यदि नहीं, तो तुम्हारी प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होसक्ती, और यदि है, तो यही अनुमान बनगया, फिर इससे अनुमान का खण्डन कैसे होसक्ता है ?

(सर्वास्तित्ववादी)—वैभाषिक और सौत्रान्तिक।

(१) दोनों का मत भेद और ऐक्य।

वैभाषिक और **सौत्रान्तिक** दोनों ही बाह्य अर्थ का अस्तित्व मानते हैं, इसलिये दोनों **बाह्यार्थास्तित्ववादी** हैं। भेद इस अंश में है, **वैभाषिक** मानते हैं, कि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पर **सौत्रान्तिक** मानते हैं, कि प्रत्यक्ष तो प्रतीति (=अन्दर के अनुभव) का होता है, बाहर के अर्थ का नहीं होता, किन्तु उस प्रतीति की विचित्रता से अर्थ का अनुमान होता है। अर्थात् प्रतीति में जो विचित्रता होती है, कभी घड़े की प्रतीति है, कभी वस्त्र की। यह विचित्रता उस में स्वतः नहीं होसक्ती, जब तक कि उसमें विचित्रता डालने वाला कोई अलग हेतु न हो, ऐसा हेतु उस प्रतीति से अलग अर्थ ही होसक्ता है। और वह बाहर प्रतीत होता है, इसलिये बाहर है। इतना इन दोनों मतों में भेद है, अन्य सारे अंशों में एकता है।

(२) बाह्य और आभ्यन्तर जगत्।

दो प्रकार का जगत् है, बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य भूत और भौतिकरूप है, और आभ्यन्तर चित्त और चैत्तरूप वा चैत्तिकरूप

पृथिवीधातु, जलधातु, तेजोधातु और वायुधातु यह चारों

(३) भूत और भौतिक। **भूत** हैं। रूपादि विषय और नेत्रादि इन्द्रिय **भौतिक** अर्थात् भूतों का कार्य है।

(४) आकाश। आवरणाभावमात्र अर्थात् रोक का न होना मात्र **आकाश** है।

(५) परमाणु और उनका संघात। चार प्रकार के पृथिवी आदि के परमाणु हैं, पृथिवी के परमाणु कठिनस्वभाव वाले, जल के स्निग्ध स्वभाव वाले, तेज के उष्ण स्वभाववाले और वायु के ईरण (चलने के) स्वभाववाले हैं। इन परमाणुओं से बना हुआ यह जो भूत भौतिक बाह्य जगत् है, यह इनका संघातमात्र है। अर्थात् पार्थिव परमाणुओं का पुञ्ज ही पृथिवी है, और पुञ्ज ही वृक्षादि हैं, यह पृथिवी आदि परमाणुओं से कोई अलग वस्तु नहीं बन गए, किन्तु एक संस्थान (तरतीब) विशेष में परमाणुओं का ही ढेर हैं (प्रश्न) यदि वृक्ष परमाणुओं का ढेर है, तो "यह एक वृक्ष है" इस प्रकार वृक्ष में एकत्व क्यों प्रतीत होता है? (उत्तर) जैसे मनुष्यसमुदाय में सेना और वृक्ष समुदाय में वन यह एकत्वबुद्धि होती है, इसी प्रकार यहां भी समुदाय में एकत्वबुद्धि होती है (प्रश्न) तथापि परमाणुओं का समुदाय यदि वृक्ष है, तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, क्योंकि परमाणु प्रत्यक्ष नहीं हैं (उत्तर) जैसे दूर से एक बाल प्रत्यक्ष नहीं होता, तथापि बालों का समुदाय प्रत्यक्ष होजाता है, इसी प्रकार अलग२ परमाणुओं के अप्रत्यक्ष होनेपर भी परमाणुसमुदाय प्रत्यक्ष होता है।

(६) चित्त चैत्तिक। अन्दर स्थित जो **विज्ञान** है, वह **चित्त** है, वही **आत्मा** है, यही पांच स्कन्धों में **विज्ञानस्कन्ध** है। यह **चित्त** है, शेष चार स्कन्ध **चैत्तिक** हैं।

(७) पञ्चस्कन्ध।

रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार नामी पांच स्कन्ध हैं। विषय और इन्द्रिय रूपस्कन्ध है। यद्यपि पृथिवी आदि विषय बाह्य हैं, तथापि इन्द्रियों के सम्बन्ध से आभ्यन्तरचित्त से निरूपण किये जाते हैं, इसलिये आभ्यन्तर समुदाय में उनको गिना है। "मैं" "मैं" इस प्रकार जो आलयविज्ञान और इन्द्रियजन्य जो रूपादि विषयक प्रवृत्ति-विज्ञान है, इस विज्ञान का प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है। सुख आदि का अनुभव वेदनास्कन्ध* है। यह गौ है, यह घोड़ा है, यह गोरा है, यह काला है, वह जारहा है, यह आरहा है, इत्यादि प्रतीति, कि जिस में प्रतीति का कोई नाम रक्खा जाता है, जिस को सविकल्पप्रत्यय कहते हैं, यह संज्ञास्कन्ध† है। रागद्वेषादि जो क्लेश हैं, और उपक्लेश जो मदमान आदि तथा धर्म अधर्म हैं, यह क्लेश, उपक्लेश दोनों मिलकर संस्कारस्कन्ध है, क्योंकि यह विज्ञान में संस्कार के तौर पर हैं। इनमें से विज्ञानस्कन्ध, चित्त वा आत्मा है, शेष चारों स्कन्ध चैत्त वा चैत्तिक हैं। इनका संघात आध्यात्मिक-संघात है, लोक के सारे व्यवहार इसी संघात के आश्रय हैं।

(८) कार्यकारणभाव और प्रतीत्यसमुत्पाद।

बाहर और अन्दर जो कार्य होरहे हैं, उन में कोई अलग चेतन (ईश्वर) कर्ता नहीं, किन्तु सारे कारणों के मिल जाने पर कार्य अपने

---

* प्रिय की प्राप्ति में सुख विशिष्ट, अप्रिय की प्राप्ति में दुःख-विशिष्ट, और जो न प्रिय है, न अप्रिय है, उसकी प्राप्ति में सुख दुःख से रहित जो चित्त की अवस्था होती है, यह तीनों प्रकार की अवस्था वेदना है।

† सविकल्प प्रत्यय संज्ञास्कन्ध है, और निर्विकल्प प्रत्यय विज्ञान-स्कन्ध है, यह इन दोनों स्कन्धों का भेद है।

आप होजाता है, इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद* कहते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद दो कारणों से होता है, हेतूपनिबन्ध से और प्रत्ययोपनिबन्ध से। हेतूपनिबन्ध=एक कारण का सम्बन्ध, और प्रत्ययोपनिबन्ध-कारणसमुदाय का सम्बन्ध। अर्थात् जैसे अंकुर की उत्पत्ति वीज से होती है, यह उत्पत्ति में हेतुपनिबन्ध है, और मट्टी पानी आदि कई वस्तुओं के मेल से होती है, यह प्रत्योपनिबन्ध है।

(९) प्रतीत्यसमुत्पाद के दो कारण हेतु और प्रत्यय।

जैसाकि बुद्ध सूत्रों में कहा है-"इदं प्रत्ययफलम्"=यह (वाह्याभ्यन्तर कार्य) प्रत्यय (कारण समुदाय) का फल है (न कि किसी चेतन का) इस सूत्र में प्रत्ययोपनिबन्ध कहा है। और "उत्पादाद्वातथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैषा धर्माणां धर्मता"= बुद्धों के मत में कार्यकारणों का कार्यकारणभाव उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से मानागया है, अर्थात् जिस के होते हुए जो उत्पन्न होता है, और न होते हुए नहीं होता है, वह उसका कारण और कार्य होता है, न कि कार्य की सिद्धि में कहीं चेतन की अपेक्षा है।

(१०) इसमें बुद्धसूत्रों का प्रमाण।

पहले वाह्यकार्य में हेतूपनिबन्ध का उदाहरण दिखलाते हैं-यह जो वीज से अंकुर; अंकुर से पत्र, पत्र से काण्ड, काण्ड से नाली, नाली से गर्भ, गर्भ से शूक (सिट्टा), शूक से फूल, फूल से फल उत्पन्न होता है। वीज के न होते हुए

(११) प्रतीत्यसमुत्पाद का वाह्यजगत् में उदाहरण।

---

* प्रतीत्य=प्राप्त होकर, समुत्पाद=ठीक उत्पन्न होना। अर्थात् कारणसमुदाय को पाकर अपने आप कार्य का उत्पन्न होजाना, न कि किसी चेतन कर्ता की अपेक्षा करना।

अंकुर नहीं होता, किन्तु बीज के होते हुए ही अंकुर होता है। इसी प्रकार अंकुर के न होते हुए पत्र नहीं होता। ऐसे ही फलपर्यन्त जानो। अब इस उत्पत्ति में बीज को यह ज्ञान नहीं होता, कि मैं अंकुर को उत्पन्न कर रहा हूं, और अंकुर को भी यह ज्ञान नहीं होता, कि मैं बीज से उत्पन्न किया गया हूं वा किया जारहा हूं। इसी प्रकार पुष्पपर्यन्त यह ज्ञान नहीं होता, कि मैं फल को उत्पन्न कर रहा हूं, और न ही फल को यह ज्ञान होता है, कि मैं पुष्प से उत्पन्न किया गया हूं। सो बीजादियों में स्वयं चेतनता के न होते हुए और अन्य चेतन अधिष्ठाता के न होते हुए भी कार्यकारणभाव का नियम दीखता है। यह **हेतूपनिबन्ध** कहा है, अब **प्रत्ययोपनिबन्ध का उदाहरण** दिखलाते हैं, जैसे—छः धातुओं के मेल से बीज अंकुर का हेतु बनता है। उन में से पृथिवीधातु बीज के संग्रह (अवयवों को इकठ्ठा रखने) का काम करती है, जिस से अंकुर कठिन होता है, जलधातु बीज को स्निग्ध करता है, तेजोधातु पकाता है, वायु धातु फुलाता है, जिससे अंकुर बीज से निकलता है। आकाशधातु बीज के अनावरण (न रोकने) का काम करता है, ऋतु भी बीज का परिणाम करता है। सो इन सारे धातुओं के सम्बन्ध से बीज के उगते हुए अंकुर उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। वहां पृथिवी धातु को यह ज्ञान नहीं होता है, कि मैं बीज के संग्रह का काम कर रहा हूं, एवं ऋतुपर्यन्त यह ज्ञान नहीं होता है, कि मैं बीज का परिणाम कर रहा हूं। अंकुर को भी यह ज्ञान नहीं होता है, कि मैं इन प्रत्ययों (कारणों) से बनायागया हूं।

(१२) आध्यात्मिक प्रतीत्यसमुत्पाद।

आध्यात्मिक कार्य अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख, दौर्मनस्य, इसप्रकार का है। क्षणिक

कार्य, और दुःख स्वभाव पदार्थों में स्थायि, नित्य और सुखबुद्धि **अविद्या** है, उससे रागद्वेष और मोह यह **संस्कार** होते हैं, उन संस्कारों से गर्भस्थ को पहला **विज्ञान** उत्पन्न होता है, उस विज्ञान से गर्भीभूत (गर्भ बने हुए) शरीर की कलल बुद्बुदादि अवस्था **नामरूप** है, नामरूप से मिले हुए इन्द्रिय **षडायतन**, नामरूप और इन्द्रियों का आपस में संनिपात (संयोग) **स्पर्श**, उससे सुख आदि **वेदना**, उससे मुझे सुख सम्पादन करना चाहिये यह निश्चय **तृष्णा**, उससे वाणी और शरीर की चेष्टा की प्रवृत्ति **उपादान**, प्रवृत्ति से धर्म और अधर्म **भव**, उससे देह का जन्म **जाति**, उत्पन्न हुए देह का पकना **जरा**, देह का नाश **मरण**, मरते हुए का पुत्रादि के विषय में अन्तर्दाह **शोक**, उससे हा पुत्र इत्यादि विलाप **परिदेवना**, अनिष्ट का अनुभव **दुःख** और मानसी व्यथा **दौर्मनस्य** एवं मद मानादि आध्यात्मिक कार्य होते हैं। यहां भी अविद्या यदि न होती, तो संस्कार उत्पन्न न होते, इसी प्रकार जाति तक जानो। और जाति यदि न होती, तो जरा मरणादि न होते। यहां अविद्या को यह ज्ञान नहीं होता है, कि मैं संस्कारों को उत्पन्न कर रही हूं, और न ही संस्कारों को यह ज्ञान होता है, कि हम अविद्या से उत्पन्न किये गए हैं। इसी प्रकार जाति तक और जाति से आगे जरा मरणादि के विषय में जानो यह **हेतूपनिबन्ध** है। अब अध्यात्मिक कार्य में **प्रत्ययोपनिबन्ध** कहते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, और विज्ञान धातुओं के मेल से काय (शरीर) बनता है, उन में से पृथिवीधातु काय को कठिन बनाती है, जल धातु काय को स्निग्ध करता है, तेजो धातु काय के खाए पिये को पचाता है, वायु धातु काय का श्वासादि

करता है, आकाश धातु काय को छिद्र वाला बनाता है। और जो नामरूप को और मनोरूप विज्ञान को बनाता है, वह विज्ञानधातु कहलाता है। इसप्रकार जब आध्यात्मिक विज्ञानादि धातु समग्र होते हैं, तब सब के सम्बन्ध से काय की उत्पत्ति होती है। वहां पृथिवी आदि धातुओं को यह विज्ञान नहीं होता है, कि हम काय की कठिनता आदि बना रहे हैं, और काय को भी यह ज्ञान नहीं होता है, कि मैं इन कारणों से बनाया जा रहा हूं। तथापि पृथिवी आदि अचेतन धातुओं से बिना किसी चेतन अधिष्ठाता के अंकुर की नाईं काय की उत्पत्ति होती है। सो यह प्रतीत्यसमुत्पाद दृष्ट है, इसको अन्यथा नहीं करसक्ते। यहां किसी चेतन की आवश्यकता नहीं, कारणों के मिलने पर अपने आप कार्य्य उत्पन्न होता है। इतना-मात्र दृष्ट होने से चेतन अधिष्ठाता की अनुपलब्धि है।

(१४) कारणों का समवधान उपसर्पणप्रत्यय से होता है।

यदि कहो, कि सारे कारणों के समवधान (इकट्ठा) में अपने आप बीज से अंकुर की उत्पत्ति हो, पर उन कारणों को इकट्ठा करने वाला तो कोई चेतन अलग चाहिये। भला अंकुर की उत्पत्ति में तो अकेला बीज ही हेतु है, दूसरे कारण सहायक हैं। इसलिये कहसक्ते हो, कि जब बीज को दूसरी सहायता मिल गई, तो वह अंकुर को उत्पन्न करदेगा। पर जहां अनेक हेतुओं के समवधान से एक कार्य होता है, जैसे पांचों स्कन्धों का समुदाय है। यह किसी एक हेतुमात्र के अधीन उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु नाना हेतुओं के समवधान से उत्पन्न हुआ है। यदि शरीर अपने हेतु से बन भी जाता, पर उसमें आकर विज्ञानस्कन्धादियों का समुदाय इकट्ठा न होता, जो अपने २ दूसरे हेतुओं से हुआ है, तो यह एक मूर्ति अवश्य होती, पर चेतन मनुष्य न होता। सो मनुष्य एक हेतु

से नहीं, किन्तु सारे हेतुओं के समवधान से हुआ है। पर सारे हेतुओं का समवधान अपने आप हो नहीं सक्ता, इसलिये इन हेतुओं का समवधान करने वाला अवश्य कोई और चेतन निमित्त चाहिये, क्योंकि यह जड़ अपने आप आकर इस सामञ्जस्य से इकट्ठे नहीं होसक्ते, यदि ऐसा कहो, तो इसका उत्तर यह है, कि हेतुओं का समवधान **उपसर्पणप्रत्यय** से होता है। उपसर्पणप्रत्यय=निकट लाने वाले कारण। अर्थात् जैसे कारण को पाकर कार्य अपने आप होता है, वैसे उन कारणों का इकट्ठा होना भी इकट्ठा करने वाले कारणों से अपने आप होता है। इन इकट्ठा करने वाले कारणों को **उपसर्पणप्रत्यय** कहते हैं।

(१५) चित्त और चैत्त के चार कारण।

चित्त और चैत्त की उत्पत्ति के चार कारण होते हैं— **विषय, कारण, सहकारी** और **संस्कार**। इन कारणों से चित्त अर्थात् रूपादिज्ञान और चैत्त अर्थात् सुखादि उत्पन्न होते हैं। जैसे नील ज्ञान का नीली वस्तु **विषय** (विषयरूप) कारण है, नेत्र **करण** (साधनरूप) कारण है, प्रकाश **सहकारि** (सहायकरूप) कारण है, समनन्तर (पहली) प्रतीति **संस्कार** (संस्काररूप) कारण है।

(१६) प्रतीत्यसमुत्पाद और उपसर्पणप्रत्यय का सारांश।

सारांश यह है, कि कारण जब मिलते हैं, तो कार्य अपने आप होता है, जिन कारणों के मिलने से कार्य होता है, वही कारण माने जासक्ते हैं। बीज के न होते हुए अंकुर नहीं होता, होते हुए ही होता है, इसलिये बीज कारण है, इसी प्रकार पृथिवी आदि छः धातुओं में से जब तक सारे न

मिलें, अंकुर नहीं होता। पर इनके मिल जाने पर फिर किसी अन्यचेतन (ईश्वर) की प्रतीक्षा नहीं करते, इसलिये अलग चेतन के कारण होने में कोई प्रमाण नहीं। उसके विना कभी कोई कार्य नहीं रुका, जिस से उसको भी कारण मानाजाए। जिस तरह यह कार्य अपने कारणों से अपने आप होता है, इसी तरह कारणों का समवधान भी अपने कारणों से अपने आप होता है, कहीं भी किसी अलग चेतन की प्रतीक्षा नहीं होती, इसलिये कोई अलग चेतन कारण नहीं।

(१७) वस्तुमात्र क्षणिक है।

जिस तरह विद्युत् क्षणिक है, एक क्षण ठहरती है, दूसराक्षण नहीं, इसी तरह सारे ही भाव क्षणिक हैं। एकक्षण में उत्पन्न होते हैं,दूसरे में नष्ट होते हैं। यह भाव जो हमें स्थिर प्रतीत होरहे हैं, यह सब क्षण २ में बदल रहे हैं, एक अवस्था में एक पल नहीं ठहरते, इसीलिये बड़ी २ कठिन वस्तुएं भी समय पाकर बोदी होजाती हैं, वह किसी एक दिन में बोदी नहीं हुई, किन्तु लगातार क्षण २ में बोदी होती चली आई हैं। स्थायी कोई वस्तु नहीं, बढ़ती है, वा घटती है, एकक्षण भी ठहरी नहीं रह सक्ती। इसलिये पहले क्षण में जो भाव होता है,वह दूसरे में नहीं रहता। पर यह जो प्रतीति होती है, कि यह वही है, यह सदृश होने से होती है, जैसे दीपक की लाट क्षण २ में बदलती है, पर वही प्रतीत होती है, नख और केश नए २ फूटकर भी वही प्रतीत होते हैं। वस्तुतः जैसे एक नदी का प्रवाह बहता चला जारहा है,एकक्षण भी नहीं ठहरता,इस तरह अन्दर विज्ञान की धारा बह रही है, और बाहर इन भावों का प्रवाह बह रहा है, और बहता चला जारहा है, एकक्षण भी ठहराव नहीं।

सारे भाव अर्थक्रियाकारी हैं, अर्थक्रियाकारी होना (किसी

(१८) अर्थक्रियाकारी होने से भी क्षणिक ही सिद्ध होते हैं।

कार्य को उत्पन्न करना) ही भाव वा सत्त्व का लक्षण है। सो अर्थक्रियाकारी होना अक्षणिक में नहीं घट सक्ता, क्योंकि वर्तमान अर्थक्रिया के करने के समय आगामि अर्थ-क्रियाओं का सामर्थ्य उसमें है वा नहीं। यदि है, तो उस कार्य की भी उत्पत्ति उसी क्षण होनी चाहिये, क्योंकि जो जब जिसके करने में समर्थ है, वह उस समय करता है, जैसे सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करती है। और यह भी समर्थ है, इसलिये कार्य को उत्पन्न करे। और यदि उसमें उनके करने का सामर्थ्य ही नहीं, तो कभी भी उत्पन्न न करे, जैसे पत्थर का टुकड़ा अंकुर को उत्पन्न नहीं करता है। यदि कहो, कि समर्थ भी कारण दूसरे सहकारियों के मिलने पर कार्य करता है। जब जैसे सहकारी मिलते हैं, तब वैसा कार्य होता है, जैसे पृथिवी आदि छः धातुओं के सम्बन्ध से बीज अंकुर को आरम्भ करता है, तो इसपर हम पूछते हैं, कि सहकारि कारण उस बीज में कोई अतिशय (विशेषता) डालते हैं, वा नहीं। यदि नहीं डालते, तो बीज जैसा पहले था, वैसा ही अब है, पहले की नाईं अब भी उससे अंकुर उत्पन्न न हो, और यदि कोई अतिशय डालते हैं, तो मानना पड़ेगा, कि पहला बीज जिस में वह अतिशय नहीं था, वह निवृत्त होगया, और अब यह अतिशय वाला नया बीज उत्पन्न होगया है, तो उसका क्षणिक होना सिद्ध होगया। इसी अतिशय वाले बीज को **कुर्वद्रूप** कहते हैं, यही अंकुर के उत्पन्न करने में समर्थ है।

(१९) प्रवृत्तिविज्ञान और आलयविज्ञान।

विज्ञान क्षण २ में अपना आकार बदलता रहता है, इस क्षण नील का विज्ञान है, तो दूसरे क्षण पीत का है। और तीसरे क्षण कोई और ही विज्ञान है। इस प्रकार विज्ञान की एक धारा है, जिसके

आकार बदलते हैं, पर धारा अविच्छिन्न (विना टूटने के) रहती है । हां यह किसी समय बाहर के रंग से रंगी हुई है, जब बाहर के विषयों का प्रतिभास उस पर पड़ता है, अर्थात् जब चित्त बाहर के रूपों को जानता है । तो बाहर के रूपों को जानता हुआ स्वयं तदाकार होजाता है, नील को जानता हुआ नीलाकार और पीत को जानता हुआ पीताकार होजाता है, इसी विज्ञान को **प्रवृत्तिविज्ञान** कहते हैं। प्रवृत्ति से रहित अवस्था में विज्ञान को अपने स्वरूपमात्र का ज्ञान होता है, अर्थात् "मैं" मैं" केवल यह ज्ञान होता है । इसी को **आलयविज्ञान** कहते हैं । जैसाकि कहा है—"**तत्स्यादालय-विज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् । तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिक मुल्लिखेत्**"=वह **आलयविज्ञान** है, जो "अहं"="मैं" का आश्रय है, और वह **प्रवृत्तिविज्ञान** है, जो नीलादि आकार वाला है ॥ आलयविज्ञान की धारा सुषुप्ति में भी बनी रहती है, और परलोक में भी जाती है ।

(२०) उत्तरोत्तर विज्ञान में पूर्व २ वासना की उत्पत्ति ।

विज्ञान क्षण २ में बदलता है, तो कर्मफल का नियम और स्मृति का नियम कैसे होगा ? क्योंकि एक के कर्म का दूसरे को फल मानने में, और एक के अनुभव की दूसरे को स्मृति मानने में, कोई व्यवस्था नहीं रह सक्ती है ? इसका उत्तर यह है, कि पूर्व २ विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में अपनी २ वासनाएं देता चला जाता है, और हरएक विज्ञान अपने ही सन्तान (सिलसिले) में वासना देता है, अन्य में नहीं, इसलिये अव्यवस्था नहीं होती । जैसा कहा है—"**यस्मिन्नेव हि सन्तान आहिता कर्मवासना ।**

फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा"=जिस सन्तान में कर्मवासना डाली गई है, वहां ही फल को उत्पन्न करती है, जैसे कपास में लाली (अर्थात् बीज को लाख द्वारा लाल रंग देने से कपास लाल होती है)।

(२१) पुनर्जन्म। इन्हीं वासनाओं के अनुसार फिर जन्म होता है, और फिर२ जन्म होता रहता है, जब तक यह वासनाएं बनी रहती हैं।

(२२) मोक्ष। वासनाओं का उच्छेद होकर विमलविज्ञान की धारा का बहना मोक्ष है।

(२३) प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोध। "बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं च" "तदपि चत्रयं प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधावाकाशं च" बुद्धि से जानने योग्य तीन से भिन्न जो उत्पाद्य है वह सब क्षणिक हैं ॥ १ ॥ वह तीन प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश हैं।

बुद्धिपूर्वक भावों का निरोध अर्थात् इस भाव को मैं असत् करता हूं, इस प्रकार बुद्धिपूर्वक निरोध **प्रतिसंख्यानिरोध** है, यह निरोध अविद्यादि **चैत्तिक** भावों का होता है। इस प्रकार चित्त के बल से ही चित्त की वासनाओं का निरोध करके मुक्ति लाभ कीजाती है। इसके सिवाय बाहर के पदार्थों का जो निरोध होता है वह **अप्रतिसंख्यानिरोध** है, यह दोनों निरोध अभावरूप हैं, **आकाश** भी आवरणाभावरूप है यह तीनों तुच्छरूप हैं। इनसे भिन्न सब कुछ क्षणिक है, जैसाकि पूर्व बुद्धसूत्रों में कहा है।

यह चार आर्यसत्य कहलाते हैं दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध। इनमें से पूर्वोक्त पांचस्कन्ध दुःख कहलाता है। आप, अपना, पर और पराया (वेगाना) इत्यादि भाव, जिन से कि राग द्वेष उत्पन्न होते हैं, समुदय हैं। यह सारे भाव क्षणिक हैं, ऐसी वासना मार्ग (मोक्ष का मार्ग) है, और मोक्ष निरोध है।

(२४) चार आर्यसत्य।

(विज्ञानमात्रास्तित्ववादी)—योगाचार।

कई शिष्यों का बाह्य अर्थ में अभिनिवेश (लगाव) देखकर उनके अनुरोध से बाह्यार्थ वाद की यह प्रक्रिया रची है, पर भगवान् बुद्ध का उसमें अभिप्राय नहीं, उसको तो एक विज्ञानस्कन्ध ही अभिप्रेत है। बस विज्ञान ही एक वस्तु है, और कुछ नहीं।

(१) विज्ञानमात्र के अस्तित्व का स्थापन।

(प्रश्न) जब ज्ञान ही एक वस्तु है, तो उसमें एक ज्ञान का विषय, जिस को प्रमेय कहते हैं जैसे नील, दूसरा साधन जिस को प्रमाण कहते हैं, तीसरा ज्ञाता जिस को प्रमाता कहते हैं, चौथा ज्ञान जिसको प्रमा-रूप फल कहते हैं, यह जो चार अलग २ होते हैं, यह चारों एक ही ज्ञान में कैसे घट सकेंगे? (उत्तर) ज्ञान क्षणिक है और साकार है, अर्थात् नील पीतादि आकारों वाला है, और यह आकार उसके असत्य हैं। सो विज्ञान का स्वरूप जो असत्य आकारों से युक्त है, वह प्रमेय है, प्रमेय का प्रकाशना प्रमाण का फल (प्रमा) है, प्रकाशने की शक्ति प्रमाण है, शक्ति का आश्रय

(२) विज्ञानमात्र में प्रमेयादि व्यवहार की व्यवस्था।

प्रमाता है, इस प्रकार यह चारों धर्म उस विज्ञान में ही हैं।

(३) यही व्यवस्था आवश्यक है।

जहां साधन काम करता है, वहीं उसका फल होता है, ऐसा नहीं होता, कि कुल्हाड़ा तो खैर पर माराजाए; और छेद ढाक में होजाए। इसी प्रकार यह नहीं होसक्ता, कि प्रमाण का काम तो बाहर के विषय में हो, और फल (प्रमा) अन्दर विज्ञान के आश्रय उत्पन्न होजाए। इसलिये प्रमाण और फल का समानाधिकरण (एकाश्रय) होना चाहिये। और यह तब होसक्ता है, जब प्रमाण और फल दोनों अन्दर ज्ञानस्थ ही हों। अतएव बाह्य विषय की सिद्धि करते हुए भी सौत्रान्तिक ने कहा है "नहि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात्, तां तु सारूप्यमाविशत्सरूपयत्तद्घटयेत्" ज्ञान की सत्ता ही उस (विषय) का ज्ञान नहीं बन सक्ती, क्योंकि ज्ञान की सत्ता का सर्वत्र विषय में विशेष (भेद) नहीं, इसलिये वह (बाह्यविषय) ज्ञान की सत्ता को अपने रूप से रूप वाला बनाता हुआ उसको विषय से युक्त करता है॥ सो बाह्य अर्थ को मानकर भी उसके ज्ञान के लिये यदि अन्दर ज्ञान का तदाकार होना आवश्यक ही है, तो फिर ज्ञान को साकार मानकर विषय के मानने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती है।

(४) बाहर कोई अर्थ बन ही नहीं सक्ता।

बाहर जो स्तम्भ आदि अर्थ प्रतीत होते हैं, वह क्या परमाणु हैं वा परमाणुओं के समूह। यदि परमाणु हों, तो "यह एक स्थूल स्तम्भ है" यह ज्ञान न हो, क्योंकि परमाणु अनेक हैं, और परमसूक्ष्म हैं। और समूह परमाणुओं से कोई अलग वस्तु नहीं। इसी प्रकार स्तम्भत्वादि जाति, रूपादि गुण और क्रियारूप धर्म भी

यदि धर्मि से भिन्न हैं, तो जैसे अलग २ दो धर्मियों का परस्पर धर्मधर्मिभाव नहीं होता, इसी प्रकार अत्यन्तभिन्न होने से इनका भी धर्मधर्मिभाव नहीं बन सक्ता, यदि अभिन्न मानो, तो अभिन्न होने से ही धर्मधर्मिभाव नहीं रहता। इस प्रकार विचार से बाह्य अर्थ कोई भी बन नहीं सक्ता, इसलिये बाहर कोई अर्थ है ही नहीं, यही सिद्ध होता है।

(५) सहोपलम्भ नियम से भी विषय ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है।

सहोपलम्भनियम अर्थात् दोनों का नियम से एक साथ उपलब्ध होना, इस से विषय और ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है, जैसे दूसरा चन्द्र (जो नेत्र के मलने आदि से दीखता है) नियम से एक चन्द्र के साथ ही उपलब्ध होता है, वह दूसरा उससे भिन्न नहीं होता, इसी प्रकार बाह्यविषय नियम से विज्ञान के साथ ही उपलब्ध होता है, इसलिये विज्ञान से भिन्न नहीं होसक्ता है, सो कहा है "**सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये**"= सहोपलम्भ नियम से नील और उसके विज्ञान का अभेद है, और भेद भ्रान्ति से दीखसक्ता है, जैसे अद्वितीय चन्द्र में (भेद दीखता है)।

(६) बाह्य अर्थ के अभाव में भी वासना मात्र से प्रतीति हो सक्ती है।

जैसे स्वप्नादि में बाह्य अर्थ के विना ही अर्थ भी प्रतीत होते हैं, और उनका ज्ञान भी होता है। इसी प्रकार जाग्रत में भी विना बाह्य अर्थ के प्रतीति होसक्ती है (प्रश्न) यदि बाहर कोई अर्थ नहीं, तो प्रतीति में विचित्रता कैसे होती है (उत्तर) वासना की विचित्रता से। जैसे स्वप्नादि में प्रतीति की जो

विचित्रता होती है, कभी कुछ दीखता है, कभी कुछ। इस विचित्र प्रतीति में बाह्य विषय हेतु नहीं होता, किन्तु ज्ञानगत विचित्र वासना ही हेतु होती है यह सबको मानना पड़ता है। सो जब एक जगह केवल वासना की विचित्रता से प्रतीति का विचित्र होना और विषय का बाहर प्रतीत होना सिद्ध है, तो दूसरी जगह भी ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं आती, प्रत्युत लाघव है। सो बाहर प्रतीति होने वाले विषय वस्तुतः अन्दर हैं, ज्ञान के आकार हैं। बाहर उनकी प्रतीति वासना से होती है, अतएव कहा है "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वद्वभासते" जो अन्दर जानने योग्य रूप है, वह बाहर की नाईं प्रतीत होता है।

(७) वह वासना किस से उत्पन्न होती है?

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब कोई जाग्रत् में पहले बाहर अर्थ को देखता है, तबतो उसकी वासना उत्पन्न होती है, फिर उससे स्वप्न में बिना अर्थ के प्रतीति होसक्ती है, पर जब जाग्रत् की प्रतीति भी वासना से होती है, तो अब यह वासना किससे उत्पन्न होती है? इसका उत्तर यह है, कि अनादि सन्तान के अन्तर्गत पूर्व जो नील ज्ञान है वही वासना है, उसके वशसे अनेक क्षणों का व्यवधान होने पर भी फिर नीलाकार प्रतीति होती है, जैसे बीज की वासना से कपास में रक्तता होती है।

(८) ज्ञान स्वप्रकाश है।

'प्रदीपवद्विज्ञानमवभासकान्तर निरपेक्षं स्वयमेव प्रथते' दीपक नाईं विज्ञान किसी दूसरे प्रकाश करने वाले की अपेक्षा न करके अपने आप प्रकाशित होता है।

(सर्वशून्यवादी)—माध्यमिक

विज्ञानवादी ने बाह्य अर्थों के अभाव में जो युक्ति दी है, कि बाह्य अर्थ परमाणुरूप है वा परमाणुसमूह,इस विचार के आगे कुछ न ठहरने से बाह्य अर्थ है ही नहीं, यह सिद्ध होता है। यह युक्ति अर्थ और विज्ञान दोनों के विषय में एक जैसी चलती है।जैसे क्या अर्थ और विज्ञान सत् है,वा असत्।यदि सत् हैं, तो सुषुप्ति में उनका अभाव क्यों होता है। क्योंकि बाह्य अर्थों के होने में प्रमाण ज्ञान ही है, और स्वयंप्रकाश होने से अपने अस्तित्व में भी वही प्रमाण है। और सुषुप्ति में ज्ञान का सर्वथा अभाव होजाता है, यदि कहो,अभाव नहीं होता है, तो हम पूछते हैं, कि वह किसका ज्ञान होता है, क्योंकि ज्ञान अकेला नहीं होता, किसी विषय का होता है। सो तुम कुछ नहीं कहसक्ते, वहां ज्ञान के होने में कोई प्रमाण नहीं। सो सुषुप्ति में न अर्थ हैं, न ज्ञान है। यदि अर्थ और ज्ञान सत् होते, तो उनका अभाव न होता, इसलिये सत् नहीं ठहर सक्ते। असत् भी नहीं ठहर सक्ते, क्योंकि असत् का भासना नहीं होसक्ता। उभय (सदसत्) रूप भी नहीं होसक्ते, क्योंकि सत् असत् का विरोध होने से इनकी एकता नहीं बनसक्ती। अनुभय (न सत् न असत्) रूप भी नहीं होसक्ते, क्योंकि एक का निषेध उससे भिन्न की विधि अवश्य करता है। इसलिये विचार के आगे न ठहरने से शून्य ही तत्त्व है।

(१) विचार में कुछ न ठहरने से शून्य ही तत्त्व है।

किञ्च प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति यह चार तत्त्व जो दूसरों ने कल्पना किये हैं,वह भी अवस्तु ही हैं,क्योंकि घोड़े के सींग की नाईं विचार में कुछ नहीं ठहरते। इनमें प्रमाता आत्मा है, वह किसी प्रमाण से जाना नहीं जाता, इसलिये उसका अभाव है। जैसे

प्रत्यक्ष से उसकी सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं, और जो 'अहं'=मैं, इस प्रतीति से उसका मानस प्रत्यक्ष सिद्ध किया है, वह भी व्यभिचारी है, क्योंकि मैं गोरा हूं, मैं काला हूं, इत्यादि में मैं की प्रतीति का आश्रय शरीर ठहरता है, किञ्च यदि 'अहं' की प्रतीति आत्मा को विषय करे, तो यह कादाचित्क (कभी २ होने वाली) न हो, क्योंकि आत्मा सदा निकट है, और कादाचित्क प्रतीति कादाचित्क कारण से होती है, जैसे विजली का ज्ञान। अनुमान से भी उसकी सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि अव्यभिचारि लिङ्ग नहीं मिलता। और आगम क्योंकि परस्पर विरुद्धार्थवादी हैं, इसलिये प्रमाण नहीं होसक्ते। एक शास्त्रकार ने बड़ी कठिनाई के साथ कोई अर्थ एक प्रकार से स्थापन किया है, तो दूसरा दूसरे प्रकार से स्थापन करदेता है, और उस पहले का खण्डन कर देता है। इसप्रकार जिनकी अपनी प्रमाणता ही स्थित नहीं हुई, वह दूसरे का स्थापन कैसे करसकेंगे। इसलिये प्रमाता कोई नहीं। और न प्रमेय (बाह्य अर्थ) है, उसका तो विज्ञानवाद में ही खण्डन करचुके हैं, और प्रमाण जो अपने आप का और विषय का प्रकाशक ज्ञान है वह जब प्रमेय ही कोई नहीं, तो विषयशून्य होने से किसका ग्राहक होगा। इसलिये विचार के आगे न ठहरने से सब ही शून्य है। अतएव

इदं वस्तु बलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः। यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथातथा॥

अर्थ–'यह वस्तु बल से आई है (अर्थात् अगत्या इसको मानना पड़ता है) यह जो विद्वान् लोग कहते हैं। पर जैसे २ इन अर्थों का विचार किया जाता है, वैसे २ गिरते जाते हैं। अथवा–"**यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथातथा। यदेतत् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्**"=जैसे २ इनपर विचार

किया जाता है, वैसे २ यह गिरते जाते हैं, यदि अर्थों को यह स्वयं पसन्द है, तो हम उसमें कौन हैं ?

(२) निर्वाण

जब शून्य ही तत्त्व है, तो इसलिये 'सब कुछ शून्य है' इसी का ध्यान करना चाहिये, इससे अन्त में विज्ञान का दीपक भी बुझ जाता है, यही निर्वाण है ।

(३) शून्यवाद का दूसरा परिष्कार

शून्यवाद पर बहुत कुछ अनिवार्य आक्षेप होने से जो इसका दूसरा परिष्कार हुआ, वह यह है, कि यह पदार्थ पूर्वोक्त प्रकार से विचार को नहीं सहार सके, इसलिये विचारासहत्व ही वस्तुओं का तत्व है। विचारासहत्व=विचार को न सहारना अर्थात् अनिर्वचनीयता* । और निर्वाण ज्ञान का वासनाओं से शून्य होना है ।

(३)–आर्हत-दर्शन–जैन-दर्शन ।

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक ।

ऋषभदेव इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हुए हैं । ऋषभदेव नित्य सिद्ध पुरुष थे, अतएव उनको अर्हन्† मुनि कहते हैं, उन्हीं के नाम से यह दर्शन आर्हत-दर्शन कहलाता है ।

इस दर्शन में संक्षेप से दोही पदार्थ हैं–**जीव और अजीव** ।

(२) जड़चेतन का भेद।

जीव भोक्ता चेतन है, और उससे भिन्न सारा जड़वर्ग अजीव है ।

---

* ऐसा ही नवीन वेदान्त ने माना है।

† अर्हन्=पूज्य। साधारण भाषा में अर्हन्तमुनि लिखते हैं । प्राकृत में प्रायः अरिहन्त शब्द प्रयुक्त हुआ है । अरिहन्त (काम क्रोधादि आन्तरिक) शत्रुओं के मारने वाले । कहीं २ अरुहन्त भी पढ़ा है । अ-रुहन्त अर्थात् जिनका फिर उगना (जन्मलेना) नहीं है।

(३) पञ्च अस्तिकाय।

जीव अजीव का विस्तार यह है, पांच अस्तिकाय* हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय।

(४) जीवास्तिकाय का वर्णन।

जीवास्तिकाय तीन प्रकार का है बद्ध, मुक्त और नित्यसिद्ध। उनमें से आर्हन्मुनि नित्य सिद्ध है, दूसरे कई साधनों के द्वारा मुक्त हो चुके हैं, और कई बद्ध हैं। बद्ध जीवों को संसारी कहते हैं। वह दो प्रकार के हैं—समनस्क और अमनस्क अर्थात् मन वाले और मन से रहित। स्थावर अमनस्क हैं। समनस्क जंगम।

(५) पुद्गलास्तिकाय

पुद्गलास्तिकाय छः प्रकार का है, पृथिवी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत और स्थावर और जंगम अर्थात् परमाणुओं का संघात चारों भूत और स्थावर जंगम शरीर पुद्गलास्तिकाय है।

(६) धर्मास्तिकाय

मनुष्य जो शुभकर्म करता है, उनका जो अन्दर संस्कार है, वह धर्म है। मनुष्यकी बाह्यप्रवृत्ति शास्त्र के अनुसार होने से धर्मास्तिकाय का अनुमान होता है।

---

* यह पांच तत्त्व तीन काल से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये इनमें अस्ति शब्द कहा है, और अनेक प्रदेशवाला होने से शरीर की नाईं काय शब्द कहा है। पर अब व्यवहार में अस्तिकाय शब्द सांकेतिक पदार्थवाची है अस्तीति कायते = है कहा जाता है। जीवश्चासौ अस्तिकायश्चेति जीवास्तिकायः = जीवरूप पदार्थ इत्यादि समास जानो।

जीव ऊपर जाने के स्वभाव वाला है, उसकी शरीर में स्थिति (७) अधर्मास्तिकाय से अधर्मास्तिकाय का अनुमान होता है।

(८) आकाशास्तिकाय

आकाशास्तिकाय दो प्रकार का है, लोकाकाश और अलोकाकाश। ऊपर २ स्थित लोकों के अन्तर्वर्ती जो आकाश है, वह लोकाकाश है, और उनके ऊपर जो मोक्ष का स्थान है, वह अलोकाकाश है, क्योंकि वहां लोक नहीं है।

सात पदार्थों में से यह जीव और अजीव का वर्णन है। अब इसके आगे आस्रव आदि का वर्णन करते हैं।

(९) आस्रव, संवर और निर्जर।

आस्रव, संवर और निर्जर यह तीनों प्रवृत्तिस्वरूप हैं। प्रवृत्ति दो प्रकार की है। सम्यक्प्रवृत्ति और मिथ्याप्रवृत्ति। मिथ्याप्रवृत्ति आस्रव है, और सम्यक्प्रवृत्ति संवर और निर्जर हैं। इनमें से पुरुष को विषयों की ओर झुकाने वाली जो इन्द्रियों की प्रवृत्ति है, वह आस्रव है। शमदमादिरूप प्रवृत्ति संवर है। क्योंकि वह विषयों की ओर झुकाव को रोकती है। शम=अन्तःकरण का शान्त रहना, दम=बाह्य इन्द्रियों को रोकना। आदि शब्द से गुप्ति समिति आदि जानने चाहिये। शरीर वाणी और मन का निग्रह गुप्ति है। और भूमिगत जन्तुओं की हिंसा से बचने के लिये, जब सूर्य की रश्मियों से मार्ग पूरा प्रकाशित हो, उस समय सब के चलने योग्य मार्ग पर देख २ कर सञ्चार करना और नियत आहार का सेवन करना इत्यादि समिति है। तप्त शिलापर चढ़ना और बालों का

उखाड़ना आदि जो तप है, वह निर्जर है, क्योंकि वह चिरकाल से प्रवृत्त हुए पुण्यपाप के मल को देह के साथ जीर्ण कर देता है।

(१०) बन्ध का वर्णन।

आठ प्रकार का कर्म बन्ध है। इनमें से चार घातिकर्म हैं, और चार अघातिकर्म हैं। जैसे—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय यह चार घातिकर्म हैं। और वेदनीय, नामिक, गोत्रिक और आयुष्क यह चार अघातिकर्म हैं। इनमें से, सम्यग् ज्ञान मोक्ष का साधन नहीं है, क्योंकि ज्ञान से वस्तु की सिद्धि नहीं होती, यह भ्रान्ति ज्ञानावरणीयकर्म है। आर्हत-दर्शन के अभ्यास से मुक्ति नहीं होती, यह ज्ञान दर्शनावरणीय-कर्म है। तीर्थकारों ने अलग २ मोक्ष के मार्ग जो परस्पर विरुद्ध दिखलाए हैं, उनमें से विशेष का अनवधारण (न निश्चय होना) मोहनीयकर्म है। मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुओं के लिये जो उसमें विघ्न डालने वाला ज्ञान (ख्याल) है, वह अन्तरायकर्म है, यह चारों कर्म श्रेय (परमकल्याण=मोक्ष) के नाशक होने से घातिकर्म कहलाते हैं। अघातिकर्म जैसे, मेरे लिये जानने योग्य तत्त्व है, यह अभिमान वेदनीय है, मैं इस नाम वाला हूं, यह अभिमान नामिक है, मैं पूजनीय भगवान् अर्हन्त के शिष्यवंश में प्रविष्ट हुआ हूं, यह अभिमान गोत्रिक है, शरीरयात्रा के निमित्त जो कर्म है, वह आयुष्क है। यद्यपि यह भी बन्धरूप हैं, तथापि यह मुक्ति के विरोधी नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान के विघातक नहीं, इसलिये अघातिकर्म कह-

लाते हैं। अथवा पूर्व पुण्यों से शुक्र पुद्गल की प्राप्ति के लिये रजवीर्य का मिलाप **आयुष्क** है, उसकी तत्त्वज्ञान के अनुकूल देह के परिणाम की शक्ति **गोत्रिक** है. शक्त हुए उसकी द्रवरूपा जो कललावस्था है, उससे आगे बुद्बुदावस्था की आरम्भक क्रिया-विशेष **नामिक** है। अब सक्रिय बीज का जो घनीभाव है, वह **वेदनीय** है, क्योंकि वह तत्त्ववेदन(तत्त्वज्ञान) के अनुकूल है। यह सारे तत्त्वज्ञान का निमित्त जो शुक्रपुद्गल है, उसके लिये हैं, इसलिये **अघाति** कहलाते हैं। सो यह आठों कर्म जन्म का हेतु हैं, इस-लिये **बन्ध** कहलाते हैं।

(११) मोक्ष का वर्णन।

जिस आत्मा के सारे क्लेश और उनकी वासनाएं दूर होकर ज्ञान का आवरण उठगया है, उस आत्मा की मरकर केवल सुख को अनुभव करते हुए जो उपरिदेश (अलोकाकाश) में स्थिति है, वह **मोक्ष** है, वहां उसको अर्हन्तमुनि की प्राप्ति होती है। मुक्ति के विषय में आर्हत सम्प्रदाय का यह एक मन्तव्य है, दूसरा मन्तव्य यह है, कि जीव का स्वभाव ऊपर २ जाने का है, वह धर्म और अधर्म अस्तिकाय से बन्धा हुआ यहां ठहरा हुआ है, उससे छूटकर लगातार ऊपर ही ऊपर जाना यह **मोक्ष** है। यह जीवादि सात पदार्थ अवान्तर भेदों के साथ बतला दिये हैं, अब सप्तभंगी न्याय का वर्णन करते हैं।

(१२) सप्तभंगी न्याय में युक्ति।

हर एक वस्तु अस्तित्व नास्तित्वादि विरुद्ध रूपों वाली है। जैसे घट का एक स्वरूप घट का अस्तित्व है, दूसरा प्राप्यत्व है (अर्थात् वह पाने योग्य है) अब यदि जैसे घट स्वस्वरूप से विद्यमान

है, इसी प्रकार यदि प्राप्यत्वरूप से भी विद्यमान हो, तो उसकी प्राप्ति के लिये यत्न न हो। इसलिये घटत्वादिरूप से कथञ्चित् है, पर प्राप्यत्वादिरूप से कथञ्चित् नहीं है। अथवा, हर एक वस्तु अपने स्वरूप से है, अन्यरूप से नहीं है, जैसे घट घटत्वरूप से है, पटत्वरूप से नहीं है, इस प्रकार हर एक भाव में अनेकरूपता है।

(१३) सातों भंगों का स्वरूप।

सप्तभंगी न्याय के सातों भंग यह हैं–" स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च। यहां स्यात् का अर्थ है कथञ्चित्। स्यादस्ति=कथञ्चिदस्ति=कथञ्चित् है। इसी प्रकार आगे भी।

(१४) सातों भंगों का प्रयोग।

तद्विधान विवक्षायां स्यादस्तीतिगतिर्भवेत्। स्यान्नास्तीति प्रयोगः स्यात्तन्निषेधे विवक्षिते। क्रमेणोभयविवक्षायां प्रयोगः समुदायवान्। युगपत्तद्विवक्षायां स्यादवाच्यमशक्तितः। आद्यावाच्यविवक्षायां पञ्चमो भङ्ग इष्यते। अन्त्यावाच्यविवक्षायां षष्ठभङ्गसमुद्भवः। समुच्चयेन युक्तस्य सप्तमो भंग इष्यते। जब वस्तु की विधि कहनी हो अर्थात् घटत्वादिरूपसे अस्तित्व कहना हो, तो 'स्यादस्ति' 'कथञ्चित् है यह पहला भंग प्रवृत्त होता है। प्राप्यत्वादिरूपसे उसका निषेध कहना हो, तो

स्यान्नास्ति'=कथञ्चित् नहीं है, यह दूसरा प्रयोग होता है। जब क्रम से दोनों (अस्तित्वनास्तित्व) के कहने की इच्छा हो, तो 'स्यादस्तिच नास्ति च' कथञ्चित् है और कथञ्चित् नहीं है, यह तीसरा भंग प्रवृत्त होता है। एक साथ उनके (विधि निषेध के, अस्तित्वनास्तित्व के) कहने की इच्छा हो, तो (अस्तिनास्ति इन दोनों शब्दों का एक साथ कहना) अशक्य होने से 'स्यादवक्तव्यः'=कथञ्चित् अवचनीय है, यह चौथा भंग प्रवृत्त होता है। पहला और चौथा भंग एकसाथ कहना हो, तो 'स्यादस्ति चावक्तव्यश्च'=कथञ्चित् है और अवचनीय है, यह पांचवां भंग प्रवृत्त होता है। दूसरे और चौथे के एक साथ कहने की इच्छा में 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च'= कथञ्चित् नहीं है और अवक्तव्य है, यह छटा भंग प्रवृत्त होता है। तीसरे और चौथे के एक साथ कहने की इच्छा में 'स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च'=कथञ्चित् है और कथञ्चित् नहीं है और अवक्तव्य है, यह सातवां भंग प्रवृत्त होता है।

इसी प्रकार एकत्व और अनेकत्व को लेकर 'स्यादेकः' 'स्यादनेकः' 'स्यादेकोऽनेकश्च' 'स्यादवक्तव्यः' 'स्यादेकोऽवक्तव्यः' 'स्यादनेकोऽवक्तव्यः' 'स्यादेकोऽनेकश्चावक्तव्यश्च' तथा 'स्यान्नित्यः' 'स्यादनित्यः' इत्यादि जानना। इस प्रकार वस्तु को अनेक रूप होने से प्राप्ति त्यागादि व्यवहार बन सक्ता है। यदि एकरूपही हो, तो हरएक वस्तु सर्वत्र सर्वदा है ही, तब प्राप्ति त्यागादि व्यवहार का लोप हो, इसलिये सब कुछ अनेकान्त है।

(१५) षट्काय

जीव सहित यह छः वस्तुएं हैं, जिनको षट्काय कहते हैं—पृथिवी काय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। पृथिवी असंख्यात जीवों के शरीरों का पिण्ड है। जब अनेक जीव मरते हैं, तो धूल आदि अचेतन पृथिवी रह जाती है। इसी प्रकार चन्द्र तारे आदि हैं। जितना पानी है, वह भी असंख्यात जीवों के शरीरों का पिण्ड है। जो २ जीव मरता है, उसका जलकाय अचेतन रह जाता है. अन्यथा सारा जल सजीव है। अग्नि भी असंख्य जीवों के शरीरों का पिण्ड है, जब अग्नि के जीव मरते हैं, तो कोयले भस्मादि जीवों के शरीर का पिण्ड रहजाता है। वायु भी असंख्यजीवों के शरीरों का पिण्ड है उसके भी जब जीव मरते हैं, तो अचेतन वायु रहजाती है। कंद मूल काई तृण ओषधि गुछ गुल्म वृक्ष वनस्पति यह सब जीवों के शरीर हैं, पर जब वह सूख जाते हैं, तब वह शरीरमात्र होते हैं, किन्तु जीव उनमें नहीं है। उक्त पांचों के जीव समय २ में मर कर एक दूसरे शरीर में उत्पन्न होते हैं। इन पांचों में केवल एक ही स्पर्शेन्द्रिय है, इसलिये इन पांचों को एकेन्द्रिय कहते हैं। जंगम सब त्रसकाय हैं। उनमें कोई द्वीन्द्रिय कोई त्रीन्द्रिय कोई चतुरिन्द्रिय कोई पञ्चेन्द्रिय हैं।

(१६) जगत् का कर्ता कोई ईश्वर नहीं।

जीवों ने शरीरत्वेन असंख्येय परमाणुओं का ग्रहण करके कर्मों के निमित्त से असंख्य शरीरों का जो पिण्ड रचा है, वही पृथिवी आदि पांच हैं। और यह प्रवाह से अनादि हैं। इनमें पहले २ जीव मृत्यु होते जाते हैं, और उन्हीं शरीरों में वा अन्य शरीरों में नए जीव इन्हीं पांचों में से पर्याय बदलकर (मरकर) उत्पन्न होते हैं। इन जीवों के विचित्र कर्मों के उदय से विचित्र रंग रूप हैं, और

इनके शरीरों में जो परमाणुओं के समूह हैं, उनमें अनन्त प्रकार की शक्तियां हैं। उन्हीं के परस्पर मेल से अनन्त प्रकार के कार्य जगत् में उत्पन्न होते हैं। और इनके परस्पर मिलने में (१) काल (२) स्वभाव (३) नियति (अदृष्ट) (४) कर्म (५) प्रेरणा यह पांच शक्तियां प्रकट होती हैं। इन्हीं शक्तियों के द्वारा पदार्थों के मिलने से विचित्र प्रकार की रचना अनादि प्रवाह से हुई है और होवेगी। यह पांचों शक्तियां जड़ जीव पदार्थों के अन्तर्भूत ही हैं, पृथक् नहीं, इसलिये इस जगत् के नियमों का नियन्ता और कर्ता कोई अलग ईश्वर नहीं, किन्तु जड़ पदार्थों की शक्तियां ही नियन्त्री और कर्त्री हैं।

(१७) जीवों की चार गतियां।

जीव की गति चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। नरक उसको कहते हैं, जहां केवल दुःख ही है, सुख किञ्चिन्मात्र भी नहीं। (१) अधो लोक में यह सात पृथिवियां नरक का स्थान हैं—(१) रत्नप्रभा (२) शर्करप्रभा (३) वालुप्रभा (४) पंकप्रभा (५) धूमप्रभा (६) तमःप्रभा (७) तमःतमःप्रभा। इन सातों के जीव केवल दुःख ही भोगते हैं, पर उनके दुःख में परस्पर अन्तर है। (२) पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और गौ घोड़ादि पञ्चेन्द्रिय यह सब तिर्यञ्चगति में हैं (३) मनुष्य सारे मनुष्यगति में हैं (४) देवजाति में चार प्रकार के देवता गिने जाते हैं—(१) भुवनपति (२) व्यन्तर (३) ज्योतिषी (४) और वैमानिक।

(१८) जीव परिणामी है।

जीव भी विकृतिमान् अर्थात् परिणामी है, इसीलिये वह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में, और एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय इन पांचों जातियों

में अनेक प्रकार की उत्पत्तिरूप परिणामों को अनुभव करता है। उसका परिमाण शरीर के बराबर होता है, जिस शरीर में जाता है, उसी के बराबर होता है, अतएव सारे शरीर में उसकी चेतनता उपलब्ध होती है। पर मुक्तावस्था में उसका एक ही स्थिर परिमाण होता है, क्योंकि उसके पीछे उसका कोई जन्म नहीं होता।

(१८) बन्ध और बन्ध के हेतु।

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः" (क्रोधादि) मलों वाला होने से जीव का कर्मभाव के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना बन्ध है। यहां 'सकषायत्वात्' में कषायपद सारे बन्ध के हेतुओं का उपलक्षण है। सो बन्ध के हेतुओं को वाचकाचार्य ने इस तरह पढ़ा है—"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया बन्धहेतवः"=मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय बन्ध के हेतु हैं। इनमें से मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है—एक—मिथ्या कर्मों के उदय से दूसरे के उपदेश के बिना तत्त्व में श्रद्धा न होनी, यह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। दूसरा—परोपदेशज अर्थात् दूसरे के उपदेश से तत्त्व में श्रद्धा न होनी। छः इन्द्रियों का संयम न करना अविरति है। पूर्वोक्त समिति गुप्ति में उत्साह का न होना प्रमाद है। क्रोधादि कषाय है।

(२०) मोक्ष का मार्ग वा रत्नत्रय।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग हैं। उनमें से "रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु सम्यक्श्रद्धान मुच्यते । जायते

तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा । १ । यथावस्थिततत्त्वानां संक्षेपाद्विस्तरेण वा । योऽवबोधस्तमत्राहुः सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः । २ । सर्वथाऽवद्ययोगानां त्यागश्चारित्र मुच्यते । कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा । ३ । अहिंसा सूनृतास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः" अर्थ—जिनोक्ततत्त्वों में रुचि सम्यक्श्रद्धा कहलाती है,और वह स्वभाव से वा गुरु की शरण लेने से उत्पन्न होती है । १ । तत्त्वों का संक्षेप और विस्तार के साथ जो ठीक २ ज्ञान है, उसको बुद्धिमान् सम्यग्ज्ञान कहते हैं । २ । निन्दित कर्मों के सर्वथा परित्याग को सम्यक् चारित्र कहते हैं,औ वह अहिंसा आदि व्रतभेद से पांच प्रकार का है ।३।(१) अहिंसा (प्रमाद के वश होकर भी स्थावर और चर की हिंसा न करना) (२) सूनृत (प्रिय हित और सत्य ही बोलना, प्रमाद के वश होकरभी अप्रिय,अहित और असत्य न बोलना (३)अस्तेय (किसी का हक न लेना) (४) ब्रह्मचर्य (मन, वाणी और शरीर से ब्रह्मचर्य का पूरा पालन) (५) अपरिग्रह (सब वस्तुओं में मोह का परित्याग) । यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों मिले हुए मोक्ष के कारण होते हैं, अकेले २ नहीं ।

(२१) ईश्वर पद । अर्हन्त और सिद्ध यह दो पद ईश्वरपद कहलाते हैं, इनके सिवाय और कोई ईश्वर नहीं। ईश्वर व्यापक नहीं, पर सर्वज्ञ होता है ।

(२२) पंचपरमेष्ठी । अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच पदों को पञ्चपरमेष्ठी कहते हैं, और 'नमो अरिहन्ताणं' इत्यादि पञ्चपरमेष्ठी नमस्कार

मन्त्र हैं।

(२३) चतुर्विध संघ।

गृहस्थ और त्यागी दोनों का धर्म में अधिकार है, तथा नर नारी दोनों का अधिकार है। गृहस्थ नर को *श्रावक, नारी को श्राविका, त्यागी नर को साधु, नारी को साध्वी कहते हैं, इन चारों को **चतुर्विध संघ** कहते हैं।

(चौथा—वैशेषिकदर्शन)।

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक।

इस दर्शन के प्रवर्तक **कणादमुनि** हैं, उनके नाम पर इस दर्शन को **काणाददर्शन** कहते हैं। और इसमें **विशेषपदार्थ** (जोकि पहले न मालूम था) का पता लगाकर निरूपण किया है, इसलिये इसको **वैशेषिक** कहते हैं।

(२) इस दर्शन का उद्देश्य।

यह दर्शन उपदेश देता है, कि सारे पदार्थों को अलग २ करके जान लेने से ही मोक्ष मिलता है।

(३) छः पदार्थ।

पदार्थ सारे छः है, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

(४) तीन अर्थ।

इन छः में से पहले तीन अर्थात् द्रव्य गुण और कर्म यह **अर्थ** कहलाते हैं। अर्थात् मुख्य पदार्थ यही तीनों हैं, इन्हीं से अर्थक्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है, यही धर्म अधर्म के निमित्त होते हैं। शेष तीन उपपदार्थ हैं, उनसे कोई अर्थक्रिया सिद्ध नहीं होती, किन्तु वह शब्दव्यवहार के ही उपयोगी हैं।

---

* श्रावक से सरावगी बिगड़ा है।

हमारे हाथ में एक पका हुआ आम्रफल है। इसका रंग पीला है, रस मीठा है। यह पीलापन और मिठास इसमें गुण हैं,और वह वस्तु जिसके यह गुण हैं,वह द्रव्य है। इसका हिलना चलना आदि इसमें कर्म है।

(५) अर्थों का अलग २ स्वरूप।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मनइति द्रव्याणि (१।१।५) पृथिवी, जल, तेज़, वायु आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन यह नौ द्रव्य हैं।

(६) नवद्रव्य।

गन्ध पृथिवी की पहचान है, जहां गन्ध पाया जाता है, वह सब पृथिवी है। गन्ध कहीं स्पष्ट है, और कहीं अस्पष्ट। फूलों में स्पष्ट है, और मट्टी में अस्पष्ट। पर फूल उसी मट्टी से बनते हैं, अतएव फूलों का गन्ध भी उस मट्टी का ही है।

(७)पृथिवी का निरूपण

पृथिवी दो प्रकार की है, नित्य और अनित्य। एक मट्टी का ढेला बहुत से कणके मिलकर बना हुआ है, इसलिये वह अनित्य है। अब वह कणके भी और सूक्ष्म कणकों से मिलकर बने हैं, इसलिये वह भी अनित्य हैं,इसी प्रकार उन कणकों के कणके और फिर उनके भी कणके होते२ जहां पहुंचकर वह कणके आजाएंगे,जोकि आदिमूल कणके हैं, अर्थात् वह कणके,जिनसे आगे बनना आरम्भ हुआ है, पर वह स्वयं किसी से नहीं बने। यतः वह बने नहीं,इसलिये टूटेंगे भी नहीं, दो के मेल से बनते, तो टूटकर दो होते, क्योंकि टूटना विछड़ना है, एक में किस से कौन विछड़े। अतएव वह जैसे अनादि काल से हैं,

(८) पृथिवी के दो भेद नित्य और अनित्य।

वैसे ही अनन्त काल तक रहेंगे। सो यह परमसूक्ष्म कणके **नित्य** हैं, इन्हीं को **परमाणु** कहते हैं, इनके सिवाय और सारी पृथिवी (मट्टी, धूल, पत्थर, शरीर आदि) अनित्य है। क्योंकि वह कार्यरूप (बनी हुई) है।

(९) जलका निरूपण

शीतस्पर्श जल की पहचान है। उष्णजल में जो उष्णता प्रतीत होती है, वह तेज की होती है, अतएव तपाकर रखने से भी ज्यों २ तेज निकलता जाता है, त्यों २ ठंडा होता जाता है। जल भी दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। परमाणुरूप जल नित्य है और कार्य रूप अनित्य है।

(१०) तेज का निरूपण

उष्ण स्पर्श तेज की पहचान है। जहां उष्ण स्पर्श है, वहां अवश्य किसी न किसी रूप में तेज है। तेज भी दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य। परमाणुरूप तेज नित्य है, और कार्यरूप अनित्य।

(११) वायु का निरूपण

वायु की पहचान एक विलक्षण प्रकार का स्पर्श है, पृथिवी, जल, तेज, का स्पर्श रूप के साथ होता है। अर्थात् जिस पार्थिव, जलीय और तैजस वस्तु को हम छूसक्ते हैं, उसको देख भी सक्ते हैं, पर वायु का स्पर्श रूप के साथ कभी नहीं होता, वायु को हम छूते हैं, देखते कभी नहीं। वायु भी दो प्रकार का है, नित्य और अनित्य। परमाणुरूप वायु नित्य है, और कार्यरूप अनित्य।

(१२) पृथिवी जल तेज के तीन प्रकार के कार्य

पृथिवी, जल, तेज और वायु से तीन प्रकार की वस्तुएं बनी हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय। मनुष्य पशु पक्षियों के शरीर पृथिवी के हैं, घ्राणेन्द्रिय (सूंघने की इन्द्रिय) पृथिवी का है, शरीर

और इन्द्रिय के सिवाय जितनी (मट्टी पत्थर आदिरूप) पृथिवी हैं, वह सब विषय है। इसी प्रकार जलमण्डलस्थ जीवों के शरीर जलीय हैं, इन्द्रियों में रसना (रस अनुभव करने वाली इन्द्रिय) जलीय है। नदी, समुद्र, बर्फ ओले आदि जलीय विषय है। तेजोमण्डलस्थ जीवों का शरीर तैजस है, इन्द्रियों में नेत्र तैजस है, अग्नि सूर्य और जाठराग्नि आदि तैजस विषय है। वायुमण्डलस्थ जीवों का शरीर वायवीय है, इन्द्रियों में त्वचा वायवीय है, और बाहर जो वृक्षादि को कम्पाने वाला वायु है और अन्दर जो प्राणरूप वायु है, वह विषय है।

(१३) शरीरों के भेद

शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज। जलीय, तैजस और वायवीय शरीर सारे अयोनिज हैं। पार्थिव शरीर योनिज और अयोनिज दोनों प्रकार के है। योनिज भी दो प्रकार के हैं, जरायुज (जेरज) जेर से उत्पन्न होने वाले, जैसे मनुष्य पशु आदि के, और अण्डज-अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षि और सर्पादियों के। आदि ऋषियों के शरीर अयोनिज हैं।और क्षुद्रजन्तुओं के शरीर भी अयोनिज हैं।

(१४) आकाश का निरूपण

आकाश की पहचान शब्द है, जहां शब्द है, वहां आकाश है, शब्द सर्वत्र है, अतएव आकाश विभु (व्यापक) है। विभु द्रव्य नित्य ही होता है, क्योंकि वह अवयवों से बना हुआ नहीं होता, सो विभु होने से आकाश नित्य है, और एक है। आकाश का शरीर कोई नहीं, पर इन्द्रिय श्रोत्र है, कर्णछिद्र के अन्दर का आकाश श्रोत्र है।

(१५) पञ्च भूत

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पांचों द्रव्य पञ्च भूत कहलाते हैं।

(१६) भूतों के प्रसिद्ध पांच गुण

पांचों भूतों के यह पांच गुण प्रसिद्ध हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। इनमें से पृथिवी में गन्ध, रस, रूप और स्पर्श चार हैं, जल में रस, रूप और स्पर्श तीन हैं, तेज में रूप और स्पर्श दो हैं, और वायु में एक स्पर्श ही है। और शब्द केवल आकाश का गुण है।

(१७) पञ्च इन्द्रिय और पञ्च विषय

घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र, यह पांच इन्द्रिय हैं क्रम से उनके गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पांच विषय हैं। घ्राण नासा के अग्रवर्ति है और पार्थिव होने से पृथिवी के गुण गन्ध का ही ग्राहक है, रसना जिव्हाग्रवर्ति है, और जलीय होने से जल के गुण रस का ही ग्राहक है, नेत्र काली पुतली के अग्रवर्ति है और तैजस होने से रूप का ही ग्राहक है, त्वचा सर्व शरीरगत है और वायवीय होने से स्पर्श का ही ग्राहक है, श्रोत्र कर्णविवरवर्ति है और आकाशरूप होने से शब्द का ही ग्राहक है।

(१८) काल का निरूपण

यह उससे छोटा है और वह इससे बड़ा है, यह जल्दी हो गया है, और वह देर के पीछे हुआ है, इत्यादि जो विलक्षण प्रतीतियें होती हैं, इन का निमित्त सिवाय काल के और कोई बन न सकने से जो इसमें निमित्त है, वह काल है। सारे कार्यों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश में काल निमित्त होता है। काल अनादि अनन्त है, एक है विभु है, पर व्यवहार के लिये, पल, घड़ी, दिन, रात, महीना, वरस और युग आदि उसके अनेक टुकड़े कल्पना कर लिये जाते हैं।

यह इससे पूर्व है, दक्षिण है, पश्चिम है, उत्तर है, पूर्वदक्षिण

(१८)दिशा का निरूपण

है, दक्षिणपश्चिम है, पश्चिमउत्तर है, उत्तर-पूर्व है, नीचे है, ऊपर है, यह सब प्रतीतियें जिस से होती हैं, वह दिशा है, क्योंकि यहां भी कोई और निमित्त नहीं बनसक्ता है। सारे कार्यों की उत्पत्ति स्थिति और विनाश में कालवत् दिशा भी निमित्त होती है। दिशा विभु है एक है। पर व्यवहार के लिये उसके भी पूर्वादि भेद कर लिये जाते हैं।

(२०)आत्मा का निरूपण

आत्मा की पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। क्योंकि ज्ञान शरीर का धर्म नहीं हो सक्ता, क्योंकि शरीर के कारण जो पृथिवी आदि भूत हैं, उनमें ज्ञान नहीं। यदि उनमें ज्ञान होता, तो उनसे बने हुए घड़े आदि में भी ज्ञान होता, क्योंकि जैसे उनका कार्य शरीर है, वैसे ही घट आदि हैं। किञ्च मृत शरीर में असम्भव होने से भी ज्ञान शरीर का गुण नहीं है। और यह इन्द्रियों का गुण भी नहीं है, क्योंकि किसी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी पहले अनुभव किये हुए की स्मृति होती है, और स्मृति उसी को होती है, जिसने अनुभव किया है, इसलिये वह अनुभव करने वाला इन्द्रियों से भिन्न है। यह ज्ञान मन का गुण भी नहीं, क्योंकि मन जानने का साधन है, ज्ञाता नहीं, इसलिये परिशेष से ज्ञान आत्मा का गुण सिद्ध होता है। इससे आत्मा का अनुमान होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुख भी शरीर से भिन्न आत्मा का अनुमान कराते हैं। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के लिये शरीर की चेष्टा भी इस बात को प्रकट करती है, कि अपने हित अहित को जानकर शरीर का चलाने वाला शरीर में एक अलग अधिष्ठाता बैठा हुआ है, जैसे रथ में रथ का सारथि होता है। इसी प्रकार और भी बहुत से हेतु हैं। जीवात्मा अनेक हैं, और प्रतिशरीर भिन्न२ हैं। परमात्मा जीवात्मा से भिन्न सर्वज्ञ, सर्वव्यापक

और सृष्टिकर्ता है।

जैसे बाहर रूपादि ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रिय हैं, वैसे अन्दर सुख दुःखादि के ज्ञान का साधन जो इन्द्रिय है, वह मन है। वह हर एक आत्मा के साथ एक २ नियत है। मन अणु (सूक्ष्म) है।

(२१) मन का निरूपण।

यह नौ ही द्रव्य हैं, अधिक नहीं। यद्यपि तम (अन्धकार, अन्धेरा) काले रंग का और चलता हुआ प्रतीत होता है, पर वस्तुतः तम कोई द्रव्य नहीं, प्रकाश का अभाव (न होना) ही तम है, प्रकाश के न होने से न दीखना ही उसमें कालापन है, यदि सचमुच उसका कोई रंग होता, तो वह प्रकाश के साथ दीखता, पर प्रकाश में तो अन्धेरा रहता ही नहीं। और जो वह चलता हुआ प्रतीत होता है, वह अन्धेरा नहीं चलता, किन्तु प्रकाश के आगे २ चलने से अन्धेरा चलता हुआ प्रतीत होता है, जैसे पुरुष के चलने से छाया चलती हुई प्रतीत होती है। इसलिये नौही द्रव्य हैं।

(२२) द्रव्यों का उपसंहार

गुणों का निरूपण।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार यह चौवीस गुण हैं।

(२३) गुणों का विभाग।

इन में से रूप नेत्रग्राह्य है, पृथिवी जल तेज में द्रव्यादि का प्रत्यक्ष कराने वाला है, नेत्र का सहकारि है, शुक्लादि रूप से अनेक प्रकार का है। रस रसनेन्द्रिय ग्राह्य है, जीवन पुष्टि बल और आरोग्य का निमित्त है, रसना का सहकारी है। मधुर, अम्ल,

(२४) रूप रस गन्ध स्पर्श का वर्णन।

लवण, कटु, तिक्त, कषाय (कसैला) भेद से छः प्रकार का है। **गन्ध** घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य है, केवल पृथिवी में रहता है, घ्राण का सहकारी है, सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध) इसके दो भेद हैं। **स्पर्श** त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य है, पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है, त्वचा का सहकारी है। शीत, उष्ण, और अनुष्णाशीत (न ठण्डा न गर्म) भेद से तीन प्रकार का है।

(२५) कारण के गुणों से कार्य्य के गुणों की उत्पत्ति।

कारण के गुणों से कार्य में गुण उत्पन्न होते हैं, इसलिये श्वेत तन्तुओं से श्वेत वस्त्र और कृष्ण से कृष्ण बनता है। इसी प्रकार रस गन्ध स्पर्श भी अपने कारण से कार्य में आते हैं। तथा गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह भी।

(२६) पृथिवी में पाकज रूपादि की उत्पत्ति।

पृथिवी में रूप रस गन्ध और स्पर्श पाकज भी होते हैं अर्थात् अग्नि आदि तेज के संयोग से भी उत्पन्न होते हैं। जैसे पके हुए आम के रूप रस गन्ध और स्पर्श बदल जाते हैं, वह पाक से उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार पके हुए घड़े के रूपादि बदल जाते हैं।

वह एक है, दो हैं, इत्यादि व्यवहार का हेतु **संख्या** है।

(२७) संख्या का निरूपण।

संख्या एक द्रव्य के आश्रय भी होती है, जैसे यह एक वृक्ष है, और अनेक द्रव्यों के आश्रय भी होती है, जैसे यह दो वृक्ष हैं, यहां दो की संख्या दोनों के आश्रय है। एकत्व संख्या नित्य द्रव्यों में नित्य है, क्योंकि नित्य द्रव्य सदा बने रहते हैं, उन में अपनी २ एकत्व संख्या भी सदा बनी रहती है। पर अनित्य द्रव्यों में

अनित्य है, क्योंकि जब वह उत्पन्न होते हैं, तब उन में एकत्व संख्या उत्पन्न होती है, और जब नाश होते हैं, तो नाश होती है। एक में एकत्व संख्या तो सदा ही होगी, पर द्वित्वादि संख्या सदा नहीं होती, जब हम अलग २ दो वस्तुओं को इकट्ठा मिलाकर कहना चाहते हैं, कि यह दो हैं, तब उन में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है, पहले नहीं थी, पीछे भी नहीं रहेगी, क्यों उसमें द्वित्व उसकी अपेक्षा से है और उसमें उसकी अपेक्षा से, इस **अपेक्षाबुद्धि** से उनमें द्वित्व संख्या उत्पन्न हुई है, और इस अपेक्षाबुद्धि के नाश होने पर नाश होजाती है, अतएव द्वित्वादि संख्या सर्वत्र अनित्य होती है। जीव और ईश्वर दो हैं, यह द्वित्व संख्या भी एक दूसरे की अपेक्षाबुद्धि से उनमें उत्पन्न हुई है, सो अपेक्षाबुद्धि के हटते ही नाश होजायगी। इसी प्रकार त्रित्वादि। संख्या कहां तक जा सक्ती है, यह कोई हद नहीं होसक्ती, मनुष्यों ने अपने व्यवहार के लिये परार्ध तक कल्पना करली है। द्वित्वादि संख्या **व्यासज्यवृत्ति** कहलाती है, क्योंकि वहअपने आश्रयभूत वस्तुओं में एक ही सब में होती है, अलग २ नहीं होती। संख्या नित्य अनित्य मूर्त अमूर्त सारे द्रव्यों में रहती है। "यह इतना है" इस व्यवहार का हेतु **परिमाण** है। परिमाण चार प्रकार का है, अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। परिमाण भी नित्य अनित्य मूर्त अमूर्त सारे द्रव्यों में रहता है। यह परिमाण एक दूसरे की अपेक्षा से कहे जाते हैं। एक वस्तु को उससे बड़ी वस्तु की अपेक्षा से अणु और ह्रस्व कहा जाता है, और छोटी की अपेक्षा से महत्व और दीर्घ। हां परमाणुओं में अणुत्व और ह्रस्वत्व मुख्य हैं, और आकाशादि विभु द्रव्यों में महत्त्व और दीर्घत्व मुख्य हैं।

(२८) परिमाण।

(२८ पृथक्त्व।

यह इससे पृथक् है, इस व्यवहार का कारण पृथक्त्व है, यह भी सारे द्रव्यों में रहता है। संख्यावत् एकपृथक्त्व नित्य द्रव्यों में नित्य होता है, अनित्यों में अनित्य, क्योंकि आश्रय के नाश से उसका नाश आवश्यक है। द्विपृथक्त्वादि अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं, और अपेक्षाबुद्धि के नाश नाश्य हैं।

(३०) संयोग।

यह संयुक्त हैं, इस प्रतीति का निमित्त संयोग है। वह तीन प्रकार का है-(१) **अन्यतरकर्मज**, एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला, जैसे श्येन (बाज़) और पर्वत का संयोग (२) **उभयकर्मज**, दोनों के कर्म से उत्पन्न होने वाला, जैसे दो मेढों का संयोग (टक्कर) (३) **संयोगज**, संयोग से उत्पन्न होने वाला, जैसे हाथ पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग। कर्मज (अन्यतरकर्मज और उभयकर्मज) संयोग भी दो प्रकार का है, **अभिघात** और **नोदन**। शब्द का हेतु संयोग **अभिघात** कहलाता है,और अहेतु **नोदन**। संयोग भी सारे द्रव्यों में रहता है, संयोग अनादि कोई नहीं, किन्तु हर एक नया उत्पन्न होता है, चाहे वह नित्यों का ही संयोग हो, जैसे परमाणुओं का, अतएव हर एक संयोग अनित्य है। और हर एक संयोग **अव्याप्यवृत्ति** होता है, अर्थात् जो संयुक्त हैं, उनके सारे स्वरूप में संयोग नहीं होता,किन्तु किसी एक वा किन्हीं एक प्रदेशों के साथ होता है।

(३१) विभाग।

संयोग का नाशक गुण **विभाग** है, संयोगवत् यह भी तीन प्रकार का है-(१) **अन्यतरकर्मज**, जैसे श्येन के उड़ जाने से श्येन पर्वत का विभाग

(२) उभयकर्मज, जैसे मेढ़ों के पीछे हटने से मेढ़ों का विभाग (३) विभागज, जैसे हाथ और पुस्तक के विभाग से शरीर और पुस्तक का विभाग।

(३२) संख्यादि पांच गुणों का उपसंहार।

संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग यह पांच गुण सारे द्रव्यों में रहते हैं, इन में से संयोग, विभाग, द्वित्वादि और द्विपृथक्त्वादि अनेक द्रव्य के आश्रित होते हैं, शेष एक २ के आश्रित होते हैं।

(३३) पर और अपर।

यह परे है, यह वरे है इस व्यवहार के निमित्त गुण परत्व और अपरत्व हैं। वह दो प्रकार के हैं, दैशिक और कालिक। दैशिक दिशा से किये हुए, अर्थात् दूर निकट की अपेक्षा से, जैसे वह वस्तु इससे परे है (दूर है) यह वरे है (निकट है)। कालिक, काल से किये हुए अर्थात् आयु की अपेक्षा से, जैसे वह पर है (वड़ा है) और यह अपर है (छोटा है)। दैशिक और कालिक सारे परत्व अपरत्व अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होते हैं और अपेक्षाबुद्धि के नाश से नाश होते हैं।

गिरने का निमित्त गुरुत्व है, जल और पृथिवी में रहता है।

(३४) गुरुत्व द्रवत्व और स्नेह।

वायु में गुरुत्व की प्रतीति पार्थिव और जलीय रेणुओं के संयोग से होती है। गुरुत्व नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य है। वहने का निमित्त द्रवत्व है। वह दो प्रकार का है, स्वाभाविक और नैमित्तिक। जल में स्वाभाविक है, और घृत आदि पार्थिव वस्तुओं में नैमित्तिक है, अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है। द्रवत्व भी नित्यों

में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है। **स्नेह** जलों का विशेष-गुण है। संग्रह करना (चूर्ण को एक पिण्ड बना देना) कान्ति और मृदुता का हेतु है। नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

(३५) शब्द।

शब्द आकाशमात्र का गुण है, श्रोत्र से ग्रहण किया जाता है, दो प्रकार का है, ध्वनिस्वरूप और वर्ण-स्वरूप। ध्वनिस्वरूप मृदङ्ग आदि में होता है, और वर्णस्वरूप मनुष्यों की भाषाओं में है।

(३६) बुद्धि।

बुद्धि ज्ञान का नाम है, यह केवल आत्मा का गुण है।

(३७) बुद्धि के दो भेद अनुभव और स्मृति।

बुद्धि के दो भेद हैं—**अनुभव** और **स्मृति**। नया ज्ञान अनुभव है, और पिछले जाने हुए का स्मरण स्मृति है।

अनुभव दो प्रकार का है—**यथार्थ** (सच्चा) और **अयथार्थ**

(३८) अनुभव के दो भेद यथार्थ और अयथार्थ।

(मिथ्या=झूठा)। यथार्थानुभव को **प्रमा** वा **विद्या** कहते हैं और अयथार्थ को **अप्रमा** वा **अविद्या**।

यथार्थानुभव के तीन भेद हैं—**प्रत्यक्ष, लैङ्गिक** और **आर्ष**।

(३९) यथार्थानुभव के तीन भेद प्रत्यक्ष लैङ्गिक और आर्ष।

इन्द्रियों से जो अनुभव होता है, वह **प्रत्यक्ष** है। मन भी इन्द्रिय है, इसलिये मन से सुख दुःखादि का अनुभव भी प्रत्यक्ष है। किसी लिङ्ग (चिन्ह, निशान) को देखकर जो लिङ्गी (उस निशान वाले) का ज्ञान होता है, वह **लैङ्गिक** है, इसी को

अनुमिति वा **अनुमा** कहते हैं, जैसे रचना को देखकर ईश्वर का अनुभव होता है। ऋषियों को धर्मविशेष के बल से धर्मादि विषयों में यथार्थ बतलाने वाला जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह **आर्ष** है। यह ज्ञान वेद में है। यही तीनों प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, और वेद। और जितने प्रमाण हैं, वह प्रत्यक्ष वा अनुमान के ही अन्तर्गत होजाते हैं। लौकिक शब्द भी अनुमान के अन्तर्गत होकर प्रमाण होता है, क्योंकि यदि उसका वक्ता सर्वथा निर्दोष है, न उसको भ्रान्ति हुई है, न धोखा देना चाहता है, तब प्रमाण है, अन्यथा अप्रमाण, इसलिये स्वतन्त्र प्रमाण नहीं।

(४०) अयथार्थानुभव के दो भेद।

अयथार्थानुभव किसी दोष से होता है, चाहे वह दोष इन्द्रियों में हो, वा संस्कार में। उसके दो भेद हैं–**संशय** और **विपर्यय**।

एक निश्चय न होना **संशय** है। संशय प्रत्यक्ष में भी और

(४१) संशय।

अप्रत्यक्ष में भी होता है, प्रत्यक्ष में जैसे, दूर से खम्भे को देखकर, क्या यह खम्भा होगा वा पुरुष ? यह संशय होता है। अप्रत्यक्ष में, जैसे जंगल में केवल सींग को देख कर क्या यह गौ होगी वा गवय ? यह संशय होता है। संशय होता तब है, जब उनका सांझाधर्म तो दीखे, और विशेष धर्म न दीखे, जैसे ऊंचाई जो वृक्ष और मनुष्य का सांझा धर्म है, वह दीखती है, और खोड आदि जो वृक्ष का विशेषधर्म है, वह नहीं दीखता है। विशेषधर्म का ज्ञान होने से संशय मिट जाता है।

विपर्यय=मिथ्याज्ञान, उलटा ज्ञान, भ्रम, भ्रान्ति, न उसको

(४२) विपर्यय।

वह समझना, वा न वैसे को वैसा समझना, जैसे गौ को घोड़ा समझना, वा अज्ञानी को

ज्ञानी समझना। विपर्यय भी प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में होता है। प्रत्यक्ष में जैसे रस्सी को सांप, सीप को चांदी। अनुमान में जैसे भाप को धुआं जानकर अग्नि का अनुमान, गवय का सींग देखकर गौ का अनुमान।

(४३) अनध्यवसाय।

प्रशस्तपाद में अविद्या के दो भेद और कहे हैं, अनध्यवसाय और स्वप्न। अनध्यवसाय=निश्चय न होना। अदृष्टपूर्व वस्तु को देखकर "यह क्या है" ऐसा आलोचनमात्र ज्ञान अनध्यवसाय है। जैसे अदृष्ट-वृक्ष को देखकर "यह क्या है" यह सोचना अनध्यवसाय है। उसका वृक्ष होना तो प्रत्यक्ष है, पर उसके विशेष नाम का निश्चय नहीं है। यह प्रत्यक्ष के विषय में अनध्यवसाय है। अनुमान के विषय में, जहां सींग को देखकर "यह कौन प्राणी होगा" ऐसा अनध्यवसाय होता है। संशय और अनध्यवसाय में भेद यह है कि संशय दृष्टपूर्व दो वा अधिक वस्तुओं के विषय में होता है, और अनध्यवसाय एक ही अदृष्टपूर्व वस्तु के विषय में होता है।

(४४) स्वप्न और स्वप्नान्तिक

जब बाहर के इन्द्रिय बन्द होजाते हैं, और मन बाहर से सम्बन्ध तोड़कर अन्दर हृदय में निश्चल ठहरता है, उस समय पूर्वानुभूत पदार्थों के संस्कारों के वश से प्रत्यक्षाकार ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वप्न है। वह तीन कारणों से होता है, संस्कार के वेग से, धातु दोष से और अदृष्ट से। (१) जब कोई कामी वा क्रुद्ध पुरुष कामिनी वा शत्रु को वेग से चिन्तन करता हुआ सो जाता है, तो वह उसकी चिन्तासन्तति (चिन्ता का सिलसिला) प्रत्यक्षाकार होजाती है। धातु दोष से जैसे वातप्रकृति वा वातदूषित (जिसका वात प्रकुपित है) पुरुष आकाश में उड़ना

आदि देखता है। पित्त प्रकृति वा पित्तदूषित पुरुष अग्निप्रवेश, सोने के पर्वत आदि को देखता है। कफप्रकृति वा कफदूषित पुरुष नदी समुद्र और बर्फ के पर्वतादियों को देखता है। अदृष्ट से, जैसे कोई भावी शुभाशुभ का सूचक स्वप्न होता है। और जो कभी २ स्वप्न में ही जाने हुए का स्वप्नावस्था में ही प्रतिसन्धान होता है, कि "कभी मैंने इसे देखा है" यह ज्ञान **स्वप्नान्तिक** कहलाता है। इनमें से स्वप्न ज्ञान तो पूर्वानुभव से उत्पन्न हुए संस्कार से होता है, और स्वप्नान्तिक तत्कालोत्पन्न ज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार से होता है।

(४५) स्मृति

पूर्वानुभव के संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह **स्मृति** है। नवीनों ने स्वप्न को भी स्मृति ही माना है, क्योंकि वह संस्कारमात्र से जन्य होता है, किन्तु भावना (स्मृति जनक संस्कार) के प्रकर्ष से स्मृति का विषय प्रत्यक्षाकार सा प्रतीत होता है। इतना ही स्मृत्यन्तर से भेद है।

(४६) सुख

सुख इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होता है, और सदा अनुकूलस्वभाव होता है। सुख के होने से मुख और नेत्र खिल जाते हैं। अतीत विषयों में उनकी स्मृति से सुख होता है और अनागत विषयों में उनके संकल्प से। और विज्ञानियों को जो विषय और उसकी स्मृति और संकल्प के बिना सुख होता है, वह विद्या शान्ति सन्तोष और धर्म्मविशेष से होता है। सुख ही मनुष्य का परम उद्देश्य है, इसी की प्राप्ति के लिये सब कुछ किया जाता है।

(४७) दुःख

दुःख इष्ट के वियोग वा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। सदा प्रतिकूलस्वभाव होता है। दुःख के होने से चेहरा मुरझा जाता है, दीनता आजाती है।

अतीत विषयों में स्मृति जन्य दुःख होता है और अनागतों में संकल्पजन्य।

(४८) इच्छा। अपने लिये वा दूसरों के लिये किसी अप्राप्त वस्तु की प्रार्थना (चाहना) इच्छा है। किसी वस्तु को इष्ट साधन वा अनिष्ट निवारक जानकर उस में इच्छा होती है। इच्छा दो प्रकार की है, फल की इच्छा, और उपाय की इच्छा। फल सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। और सब उसके साक्षात् वा परम्परा से उपाय हैं।

(४९) द्वेष। प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है अर्थात् जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपने आपको प्रज्वलित सा समझता है, वह द्वेष है। प्रयत्न स्मृति धर्म्म और अधर्म्म का हेतु है। द्वेष से मारने वा जीतने का प्रयत्न होता है, जिस से द्वेष हो, उसकी बार २ स्मृति होती है। दुष्टों से द्वेष में धर्म्म और श्रेष्ठों से द्वेष में अधर्म होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष यह द्वेष के भेद हैं।

(५०) प्रयत्न। उद्योग उत्साह प्रयत्न है। वह दो प्रकार का है, जीवन-पूर्वक, और इच्छाद्वेष पूर्वक। जीवनपूर्वक जो सोए हुए के प्राण अपान को चलाता है, और जाग्रत्काल में अन्तःकरण का इन्द्रियों के साथ संयोग कराता है। हित के साधनों के ग्रहण में प्रयत्न इच्छापूर्वक होता है और दुःख के साधनों के परित्याग में द्वेषपूर्वक।

(५१) धर्म अधर्म वा अदृष्ट। वेद विहित कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है, वह पुरुष का गुण है। कर्ता के प्रिय हित और मोक्ष का हेतु होता है। प्रतिषिद्ध कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है कर्ता के अहित और दुःख का हेतु होता है। धर्म और अधर्म को

अदृष्ट कहते हैं।

(५२) संस्कार।

संस्कार तीन प्रकार का है-वेग, भावना, और स्थितिस्थापक। उनमें से वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पांच मूर्त द्रव्यों में कर्म से उत्पन्न होता है। और अगले कर्म का हेतु होता है। भावना संस्कार अनुभव से उत्पन्न होता है, स्मृति और पहचान का हेतु है। विद्या शिल्प व्यायामादि में बार २ अभ्यास से इस संस्कार का अतिशय होता है,उसके बल से उस २ विषय में निपुणता आती है॥ अन्यथा किये हुए को फिर उसी अवस्था में लाने वाला संस्कार स्थितिस्थापक है। जिस से कि टेढ़ी की हुई शाखा छोड़ने से फिर सीधी होजाती है। यह संस्कार स्पर्श वाले द्रव्यों में रहता है, जिन की बनावट घनी है।

(५३) विशेष और सामान्यगुण।

इन चौवीस गुणों में से रूप रस गन्ध स्पर्श स्नेह सांसिद्धिक-द्रवत्व बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म भावना और शब्द यह विशेषगुण हैं, क्योंकि यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से निखेरते हैं। और संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व गुरुत्व नैमित्तिकद्रवत्व और वेग यह सामान्यगुण हैं, क्योंकि यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से निखेरते नहीं है।

(५४) कर्म का निरूपण

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि (वै० १।१।७) चलनारूप (हरकत) कर्म है, वह पांच प्रकार का है-ऊपर फैंकना उत्क्षेपण, नीचे फैंकना अवक्षेपण, सकोड़ना

आकुञ्चन, फैलाना प्रसारण और सब कर्म गमन कहलाते हैं। मनुष्य के कर्म पुण्यपापरूप होते हैं, महाभूतों के नहीं।

यह मुख्य पदार्थ अर्थात् द्रव्य गुण कर्म का विचार समाप्त हुआ, अब गौण पदार्थ सामान्य, विशेष और समवाय का विचार करते हैं।

(५५) सामान्य पदार्थ

किसी अर्थ की जो जाति (किस्म) है, वह सामान्य है, जैसे वृक्ष की वृक्षत्व जाति और मनुष्य की मनुष्यत्व जाति। जाति बहुतों में एक होती है जैसे सारे वृक्षों में वृक्षत्वजाति एक है। जो एक ही व्यक्ति हो, उसमें जाति नहीं रहती, अतएव आकाश, काल और दिशा में जाति नहीं, क्योंकि वह एक २ व्यक्ति हैं।

(५६) सामान्य के दो भेद पर और अपर।

सामान्य (जाति) के दो भेद हैं—पर और अपर। एक व्यापक जाति, जिस की अवान्तर जातियां और भी हों, वह परसामान्य कहलाती है, दूसरी अपर। जैसे वृक्षत्व पर है और आम्रत्व अपर। अपर सामन्य को सामान्यविशेष कहते हैं, अर्थात् वह सामान्य भी है और विशेष भी है। जैसे आम्रत्व सारे आम्रों में सामान्य है, पर दूसरे वृक्षों से आम्रों को विशेष (अलग) करती है, इसलिये विशेष भी है। यह सामान्यविशेष (पर, अपर) सापेक्ष हैं। आम्रत्वादि की अपेक्षा से वृक्षत्व पर (=सामान्य) है, और वृक्षत्व की अपेक्षा से आम्रत्व अपर (=विशेष) है। पर वृक्षत्व भी पृथिवीत्व की अपेक्षा से अपर है, और आम्रत्व भी अपनी अवान्तर जातियों की अपेक्षा से पर है। जिस की आगे अवान्तरजाति कोई न हो, वह केवल अपर ही होता है, जैसे घटत्वादि। और जिस की व्यापक

जाति कोई न हो, वह केवल पर (केवल सामान्य) ही होता है। ऐसी जाति केवल सत्ता है। क्योंकि वह सारे द्रव्यों सारे गुणों और सारे कर्मों में होती है। सत्ता वह है, जिससे सत् सत् प्रतीति होती है, अर्थात् द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है। और सारी (द्रव्यत्वादि) जातियां सामान्यविशेष हैं।

(५७) जाति में विशेष-शब्द गौण है।

पर इन द्रव्यत्वादि जातियों में से हर एक जाति अनेक व्यक्तियों में रहती है, इसलिये प्रधानतया वह सामान्य ही हैं, किन्तु अपने आश्रय (द्रव्यादि) को दूसरे पदार्थों से अलग भी करती हैं, इसलिये गौणतया विशेष शब्द से कही जाती हैं, पर जो **विशेषपदार्थ** है, वह इनसे अलग ही है।

(५८) विशेष पदार्थ।

जैसे घोड़े से गौ में विलक्षण प्रतीति जातिनिमित्तक होती है, और एक गौ से दूसरी गौ में विलक्षण प्रतीति का निमित्त रूपादि वा अवयवों की बनावट आदि का भेद है। अब इसी प्रकार योगियों को एक ही जाति गुण कर्म वाले परमाणुओं में जो एक दूसरे से विलक्षण २ प्रतीति होती है, उसका भी कोई निमित्त होना चाहिये, परमाणुओं में और कोई भेद (बनावट आदि का भेद) असम्भव होने से, जो वहां भेदक धर्म है, वही **विशेषपदार्थ** है, सो यह विशेष सारे नित्य द्रव्यों में रहता है, क्योंकि अनित्य द्रव्यों में और गुणकर्मादि में तो आश्रय के भेद से भेद कहा जासक्ता है, पर नित्यद्रव्यों में नहीं। सो हर एक नित्यद्रव्य में एक २ विशेष होता है, जिससे वह एक दूसरे से विलक्षण प्रतीत होते हैं। और देशकाल के भेद में भी, यह वही परमाणु है, यह पहचान जो योगियों को होती है इसका निमित्त भी विशेष पदार्थ है। अर्थात् पहचान और विलक्षण प्रतीति किसी

निमित्त से होती है, (जैसे गौ में गोत्वजाति से और शुक्ल में शुक्लत्व-गुण से) और वह निमित्त परमाणुओं में कोई और न होने से उनमें भी अवश्य कोई अलग ऐसा पदार्थ है, जो पहचान और विलक्षण प्रतीति का निमित्त है, वही विशेषपदार्थ* है।

(५९) समवायपदार्थ।

सम्बन्ध सदा दो में होता है, जैसे कूण्डे और दही का सम्बन्ध है। इनमें से दही कूण्डे से और कूण्डा दही से अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। पर जो ऐसा घना सम्बन्ध है, कि जहां सम्बन्धी अलग २ न थे, न होसक्ते† हैं, जैसे गुण गुणी का सम्बन्ध है, ऐसे सम्बन्ध को **समवाय** कहते हैं। अर्थात् गुणी में गुण समवाय सम्बन्ध से रहता है, इसी प्रकार अवयवों में अवयवी, क्रिया वाले में क्रिया, व्यक्ति में जाति और नित्यद्रव्यों में विशेष समवाय-सम्बन्ध से रहता है।

(६०) सातवां पदार्थ अभाव।

पूर्वोक्त छः भाव पदार्थ हैं, पर नव्यों ने अभाव भी अलग पदार्थ निरूपण किया है। अभाव चार प्रकार का है। **प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव** और **अन्योऽन्याभाव**। किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले जो उसका अभाव है, वह **प्रागभाव** है, नाश के पीछे जो अभाव है, वह **प्रध्वंसाभाव** है,

---

* इस विशेषपदार्थ का पता इसी दर्शन ने लगाया है, अतएव इसको **वैशेषिक** कहते हैं।

† अतएव इस सम्बन्ध को **अयुतसिद्धवृत्ति** कहते हैं, जिन दोनों में से एक दूसरे के आश्रित ही ठहरता है, स्वतन्त्र होकर नहीं, वह **अयुतसिद्ध** होते हैं।

यहां घट नहीं है, यहां पट नहीं है, इत्यादि रूप से जो इस स्थान में घट आदि के संसर्ग का प्रतिषेध है, यह अत्यन्ताभाव है, और घड़ा वस्त्र नहीं है, इस प्रकार का अभाव अन्योऽन्योऽभाव है।

(६१) उपसंहार।

इन पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष होता है, और तत्त्वज्ञान धर्म विशेष से उत्पन्न होता है, जैसाकि कहा है धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्=धर्मविशेष से उत्पन्न हुआ जो द्रव्य गुणकर्म सामान्य विशेष और समवायरूप पदार्थों का सांझे और अलग २ धर्मों द्वारा तत्त्वज्ञान, उससे मोक्ष होता है।

(पांचवां—न्यायदर्शन)।

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक।

इस दर्शन का प्रवर्तक गौतममुनि हुआ है, उसके नाम पर इसको गौतमदर्शन कहते हैं, और इस में सपरिकर (सारीजरूरतों समेत) न्याय (अनुमान) का निरूपण है, इसलिये इसको न्यायदर्शन कहते हैं। विद्याओं में इस विद्या का नाम "आन्वीक्षिकी" है।

(२) इस दर्शन का उद्देश्य।

किस तरह हम किसी विषय में यथार्थज्ञान पर पहुंच सक्ते हैं, और अपने वा दूसरे के अयथार्थ ज्ञान की त्रुटि मालूम करसक्ते हैं। इस विद्या का सिखलाना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य है। अतएव यह आन्वीक्षिकी विद्या सब की उपयोगी है—
"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः

सर्वधर्माणं विद्योद्देशे प्रकीर्तिता" विद्या के उद्देश में यह विद्या सारी विद्याओं का प्रदीप, सारे कर्मों का उपाय, और सारे धर्मों का आश्रय बतलाई गई है। इसके साथ ही मोक्षोपयोगी तत्त्व-ज्ञान भी इसमें सिखलाया है।

(३) सोलह पदार्थ और उनके ज्ञान का फल।

प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वाभास छल जाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्या० १।१) अर्थ—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इनके तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होता है॥ इनमें से प्रमेय के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है और प्रमाण आदि पदार्थ उस तत्त्वज्ञान के साधन हैं।

(४) प्रमाण प्रमाता प्रमिति और प्रमेय।

(यथार्थज्ञान का साधन **प्रमाण** है, जानने वाला **प्रमाता**, ज्ञान **प्रमिति** और जिस वस्तु को जानता है, वह **प्रमेय** कहलाती है।

(५) प्रमाण के चार भेद।

प्रमाण चार प्रकार का है—**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।**

(६) प्रत्यक्ष।

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह **प्रत्यक्ष,** है, जैसे नेत्र से सूर्य का ज्ञान। पर प्रत्यक्ष वही है, जो बदलने वाला न हो और निश्चयरूप हो। गर्मियों में रेतले मैदानों में पृथिवी की भाप के साथ मिली हुई रश्मियें हिलती हुई दूरस्थ पुरुष के नेत्र के साथ

सम्बद्ध होती हैं, वहां इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से 'यह जल है' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्षाभास है। क्योंकि निकट पहुंचने से जल का ज्ञान बदल जाता है। इसी प्रकार दूर से देखता हुआ पुरुष यह निश्चय नहीं करसक्ता है,कि यह धूम है, वा रेणु (धूल) है, वहां इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ यह संशयात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं, **निर्विकल्पक** और **सविकल्पक**।

(७) प्रत्यक्ष के दो भेद सविकल्पक और निर्विकल्पक।

वस्तु का आलोचनमात्र ज्ञान,जिस में सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है, वह **निर्विकल्पक** है, और जिस में सम्बन्ध की प्रतीति होती है, वह **सविकल्पक** है। निर्विकल्पक पहले होता है, और सविकल्पक पिछे। जैसे गौ को देखकर 'यह गौ है' यह ज्ञान पहले पहल नहीं होता। क्योंकि "गौ" इस ज्ञान में केवल व्यक्ति का ज्ञान नहीं,किन्तु एक विशेष व्यक्ति एक विशेष जाति(गोत्व) से सम्बन्ध रखने वाली प्रतीत होरही है। अब यह सम्बन्ध का ज्ञान सम्बन्धियों को पहले २ अलग जाने बिना हो नहीं सक्ता। इससे अनुमान होता है, कि पहले दोनों सम्बन्धियों (जाति व्यक्ति) का सम्बन्ध रहित ज्ञान अलग २ हुआ है,पीछे "यह गौ है" ज्ञान हुआ है। इनमें से पहला निर्विकल्पक है। उसके पीछे जो सम्बन्ध को प्रकट करने वाला ज्ञान हुआ है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक कहने में नहीं आता, वह ऐसा प्रत्यक्ष है, जैसा बाल वा गूंगे को प्रत्यक्ष होता है। और सविकल्पक कहने सुनने में आता है।

लिङ्ग(चिन्ह)को देखकर लिङ्गी(चिन्ह वाले)का जानना **अनुमान** है, जैसे धूम को देखकर अग्नि का, कारीगरी को देखकर कारीगर का।

(८) अनुमान।

जहां **व्याप्ति** अर्थात् साहचर्य (साथ रहने) का नियम पाया जाता है, वहीं अनुमान होता है। धूम अग्नि के बिना नहीं होता, इसलिये धूम से अग्नि का अनुमान होता है। पर अग्नि विना धूम के भी होती है, इसलिये अग्नि से धूम का अनुमान नहीं होता। जिसके द्वारा अनुमान करते हैं, उसको **लिंग** (चिन्ह, निशान) कहते है, और जिसका अनुमान करते हैं, उसको **लिंगी**, जैसे धूम लिङ्ग है और अग्नि लिङ्गी। लिङ्गी वही होता है, जो व्यापक हो। जहां धूम है, वहां अग्नि अवश्य है, यह अग्नि में धूम की व्यापकता है, ऐसा होने से ही अनुमान होसक्ता है। यदि विना अग्नि के भी धूम होता, तो उससे अग्नि का अनुमान न होता, जैसे अग्नि विना धूम के भी होती है, अतएव अग्नि से धूम का अनुमान नहीं होसक्ता। सो जहां व्याप्ति है, वहीं अनुमान होता है। चाहे वह समव्याप्ति हो और चाहे विषमव्याप्ति हो। **समव्याप्ति** जैसे गन्ध और पृथिवीत्व की है, जहां गन्ध है, वहीं पृथिवीत्व है, और जहां पृथिवीत्व है, वहीं गन्ध है। **विषमव्याप्ति** जैसे अग्नि और धूम की है, क्योंकि जहां धूम है, वहां अग्नि है, यह नियम तो है। पर जहां अग्नि है, वहां धूम हो, यह नियम नहीं है।

(९) अनुमान का स्थल।

अनुमान तीन प्रकार का है—**पूर्ववत्**, **शेषवत्** और **सामान्यतोदृष्ट**।

(१०) अनुमान के तीन भेद।

जहां प्रत्यक्षभूत लिङ्ग लिङ्गी में से एक के देखने से दूसरे का अनुमान होता है, वह **पूर्ववत्** है, जैसे धूम से अग्नि का। यहां दोनों प्रत्यक्ष का विषय हैं। अर्थात् यहां अनुमेय (लिङ्गी) जो अग्नि है, वह भी रसोई आदि में

(११) पूर्ववत्।

विशेषरूप से प्रत्यक्ष होचुका हुआ है।

(१२) शेषवत्।

जहां २ प्रसंग जासक्ता है, वहां २ से हटाकर शेष बचे हुए का अनुमान **शेषवत्** है। जैसे शब्द किसका गुण है, इस विचार में सारे द्रव्यों का प्रसंग आता है। पर यह स्पर्श वाले द्रव्यों का विशेषगुण नहीं बनसक्ता, क्योंकि स्पर्श वालों के विशेषगुण कारणगुण से उत्पन्न होते हैं, जैसे भेरी आदि के रूपादि उसके अवयवों से उत्पन्न होते हैं, यदि शब्द भी भेरी का अपना गुण होता, तो उसके अवयवों से उत्पन्न होता, पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि निःशब्द अवयवों से भी भेरी बनती है। फिर यह दिशा और काल का भी गुण नहीं होसक्ता, क्योंकि उनमें कोई विशेषगुण है ही नहीं। आत्मा का भी नहीं होसक्ता, क्योंकि यदि आत्मा का विशेष गुण होता, तो सुख आदि की नाईं अपने अन्दर मन से अनुभव होता, न कि बाहर श्रोत्र से, और "मैं सुखी हूं" की नाईं "मैं शब्दी हूं" यह अनुभव होता। यह मन का भी गुण नहीं होसक्ता, क्योंकि मन का कोई गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, और यह प्रत्यक्ष है। इसलिये "**परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य**" परिशेष से यह आकाश का लिङ्ग है (वै० २।१।२७)। यही परिशेषानुमान शेषवत् कहलाता है।

(१३) सामान्यतो दृष्ट।

सामान्यतोदृष्ट वहां होता है, जहां लिङ्गी को पहले प्रत्यक्ष देखा हुआ न हो, जैसे देखने सुनने आदि क्रियाओं से इन्द्रियों का अनुमान। देखना सुनना आदि क्रिया हैं, और क्रिया का अवश्य कोई साधन (करण) होता है, जैसे छेदने का कुल्हाड़ा है। इसी प्रकार देखना सुनना आदि भी क्रिया हैं, उनका भी अवश्य कोई करण होना चाहिये, यहां जो करण है वही इन्द्रिय हैं। यद्यपि सामान्यरूप से यह देखा गया है, कि जो क्रिया होती है, उसका कोई करण अवश्य होता है, जैसे छेदने

आदि में कुल्हाड़ा। पर जैसा करण यहां अनुमान करना है, अर्थात् इन्द्रियरूप, वैसा करण कभी भी देखा नहीं गया, इसलिये यह अनुमान सामान्यतोदृष्ट है। इसी प्रकार जगत् की रचना में रचने हारे का अनुमान सामान्यतो दृष्ट है। पूर्ववत् वहां होता है, जहां पहले अनुमेय को भी देखा हुआ है, और सामान्यतोदृष्ट वहां होता है, जहां अनुमेय को कभी देखा नहीं है, इसी अनुमान से सदा अतीन्द्रिय जो पदार्थ हैं, उनका ज्ञान होता है।

(१४) उपमान।

प्रसिद्ध सादृश्य से संज्ञा संज्ञि के सम्बन्ध का ज्ञान **उपमान** है। जो गवय को नहीं जानता, वह यह सुन कर कि "जैसा गौ है, वैसा गवय है" वन में जाए, और गोसदृश व्यक्ति को देखे, तो उसको यह ज्ञान होगा, कि यही गवय है। यहां गवयव्यक्ति प्रत्यक्ष है, पर यह ज्ञान कि "इसका नाम गवय है" प्रत्यक्ष नहीं, यदि यह भी प्रत्यक्ष होता, तो सभी को प्रतीत होजाता। यह ज्ञान अनुमान से भी नहीं हुआ, क्योंकि संज्ञा का कोई लिङ्ग नहीं होता। शब्द से भी नहीं हुआ, क्योंकि यह किसी ने बतलाया नहीं, इसलिये जिस से यह ज्ञान हुआ है, वह एक अलग ही प्रमाण **उपमान** है।

(१५) शब्द।

आप्त का उपदेश **शब्द** है। अर्थ का साक्षात् करने वाला और यथादृष्ट का उपदेश करने वाला **आप्त** होता है। यह ऋषि और आर्य और म्लेच्छों का समान लक्षण है। सो सभी के व्यवहार शब्द प्रमाण से चलते हैं।

(१६) शब्द के दो भेद।

शब्द दो प्रकार का है, **दृष्टार्थ** और **अदृष्टार्थ**। जिस का अर्थ यहां देखा जाता है, वह दृष्टार्थ है, और जिस का परलोक में प्रतीत होता है,

वह अदृष्टार्थ है। लौकिक वाक्य दृष्टार्थ हैं, और वैदिक वाक्य प्रायः अदृष्टार्थ।

यह प्रमाणों का निरूपण हुआ। अब इन प्रमाणों से प्रमातव्य जो अर्थ हैं, उनका निरूपण करते हैं।

(१७) बारह प्रकार के प्रमेय।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् (न्या० १।१।९) अर्थ—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग यह बारह प्रमेय हैं। इन में से इस शरीर में भोगने वाला **आत्मा** है, इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान उसके चिन्ह हैं, जिन से वह शरीर से अलग ज्ञात होता है। उसके भोगने का घर, जिस में बैठ कर वह भोगता है, शरीर है, भोग के साधन **इन्द्रिय** हैं, भोगने योग्य जो विषय (रूप रस गन्ध शब्द स्पर्श) हैं, वह **अर्थ** हैं, उनका भोगना (अनुभव करना) **बुद्धि** है। सारे इन्द्रियों का सहायक और सुख दुःखादि का अनुभव कराने वाला अन्तःकरण **मन** है। मन वाणी और शरीर से किसी कर्म का आरम्भ **प्रवृत्ति** है। प्रवृत्त करने वाले राग, द्वेष और मोह **दोष** हैं। मरकर फिर जन्मना **प्रेत्यभाव** है, सुख दुःख का अनुभव करना फल है। पीड़ा **दुःख** है, और उससे बिल्कुल छूटना **मोक्ष** है। यह प्रमेय का निरूपण हुआ, अब क्रम प्राप्त संशय आदि का निरूपण करते हैं।

(१८) संशय।

एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्मों का ज्ञान **संशय** होता है, वह तीन प्रकार का है—साधारणधर्म के ज्ञान से जन्य, असाधारणधर्म के ज्ञान से जन्य

और विप्रतिपत्तिवाक्य के ज्ञान से जन्य। पहला, जैसे दूर से देखकर यह स्थाणु होगा वा पुरुष यह संशय होता है, यहां स्थाणु और पुरुष का जो सांझा धर्म है—ऊंचा होना आदि, उसके ज्ञान से दोनों में संशय हुआ है। दूसरा, जैसे बांस के दो दल के विभाग से शब्द उत्पन्न होता है, अब यह शब्द में विभागजन्य होना शब्द का असाधारणधर्म है। पर यह असाधारणधर्म अन्यत्र द्रव्य, गुण, कर्म में देखा हुआ नहीं, इसलिये संशय होता है, कि क्या शब्द द्रव्य है और यह उसका असाधारण धर्म गुण कर्मों से विशेष है, वा गुण का द्रव्य कर्म से विशेष है, वा कर्म का द्रव्य गुण से विशेष है। तीसरा, जैसे "है आत्मा" यह एक कहता है, "नहीं है" यह दूसरा। वहां सुनने वाले को संशय होता है, कि क्या आत्मा है, वा नहीं है।

(१८) प्रयोजन।

जिस अर्थ को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त होता है, वह प्रयोजन है। मुख्य प्रयोजन सुख की प्राप्ति और दुःख की हानि है, और सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के जो साधन हैं, वह गौण प्रयोजन है।

(२०) दृष्टान्त।

जिस अर्थ में साधारण लोगों की और परीक्षकों की बुद्धि की समता होती है, वह **दृष्टान्त** है। जैसे अग्नि के अनुमान में रसोई। दृष्टान्त के विरोध से ही परपक्ष खण्डनीय होता है, और दृष्टान्त के समाधान से ही अपना पक्ष स्थापनीय होता है।

(२१) सिद्धान्त।

प्रामाणिकत्वेन माना हुआ जो अर्थ है, वह **सिद्धान्त** है।

सिद्धान्त चार प्रकार का है—**सर्वतन्त्रसिद्धान्त**, **प्रति-**

(२२) सिद्धान्त के चार भेद।

तन्त्र सिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त और अभ्युपगमसिद्धान्त।

(२३) सर्वतन्त्र सिद्धान्त।

जो सारे शास्त्रों का सिद्धान्त हो, जिस में किसी शास्त्र का विरोध न हो, वह **सर्वतन्त्रसिद्धान्त** कहलाता है, जैसे नेत्र श्रोत्रादि इन्द्रिय हैं, रूप शब्दादि उनके विषय हैं, प्रमाण से अर्थ का ज्ञान होता है, इत्यादि।

(२४) प्रतितन्त्रसिद्धान्त।

जो अपने २ शास्त्र का अलग २ सिद्धान्त है, वह **प्रतितन्त्र-सिद्धान्त** है, "जैसे जगत् का रचने हार कोई अलग ईश्वर नहीं" यह चार्वाकादि का। और 'है' यह वैशेषिकादि का सिद्धान्त है, एवं विज्ञान से भिन्न बाह्य अर्थ कोई नहीं, यह योगाचार का, और 'है' यह वैशेषिकादि का सिद्धान्त है।

(२५) अधिकरण-सिद्धान्त।

जिसकी सिद्धि दूसरे अर्थों की सिद्धि पर निर्भर है, वह **अधिकरणसिद्धान्त** है। जैसे ज्ञाता देह और इन्द्रियों से अलग है, क्योंकि जिस अर्थ को नेत्र से देखता है, उसको छूने से पहचान लेता है, 'जिसको मैंने देखा था, उसको छूरहा हूं' इत्यादि। अब यदि इन्द्रिय जानने वाले होते, तो यह प्रत्यभिज्ञा (पहचान) न होती, कि 'जिसको मैंने देखा था, उसको छूरहा हूं' क्योंकि ऐसी अवस्था में देखने वाला नेत्र अलग और छूने वाली त्वचा अलग होती, अतएव त्वचा को पहचान न होसक्ती। पर पहचान होती है, इसलिये पहचानने वाला आत्मा इन दोनों से अलग है। अब इस अर्थ की सिद्धि इन अर्थों की सिद्धि पर निर्भर है, कि इन्द्रिय नाना हैं, और उनका

पना २ विषय नियत है और वह ज्ञाता के ज्ञान के साधन हैं। क्योंकि दि एक ही इन्द्रिय मानकर उसी को ज्ञाता मान लियाजाए, ो फिर दर्शन स्पर्शन के द्वारा प्रत्यभिज्ञा अलग आत्मा को सिद्ध नहीं करेगी।

वादी की मानी हुई बात को ही मानकर उस पर विचार करना अभ्युपगमसिद्धान्त है, जैसे हो शब्द द्रव्य*, तथापि वह नित्य नहीं होसक्ता, क्योंकि उत्पत्ति विनाश वाला है†।

(२६) अभ्युपगम-सिद्धान्त।

पूर्व प्रमाणों में जो अनुमान कहा है, वह दो प्रकार का होता है-स्वार्थानुमान (अपने लिये अनुमान) और परार्थानुमान (दूसरे के लिये अनुमान)

(२७) अवयव।

स्वार्थानुमान-जिसने धूम और अग्नि की व्याप्ति जानी हुई है, उसको धूम के देखने से व्याप्ति का स्मरण होकर अग्नि का अनुमान होजाता है। परार्थानुमान-पर जब वह दूसरे को निश्चय कराना चाहता है, तो उसको अग्नि की सिद्धि के लिये मुख से वाक्य कहना पड़ता है। उसके पांच अवयव हैं-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन।

---

* शब्द गुण और अनित्य है। पर जो शब्द को द्रव्य और नित्य मानता है, उसके साथ यदि शब्द की नित्यता अनित्यता पर विचार हो, तो नैयायिक शब्द को द्रव्य मानकर भी जब शब्द की अनित्यता सिद्ध कर देता है, तो यह शब्द को द्रव्य मानना उसका अभ्युपगमसिद्धान्त है। यह व्यर्थ झगड़े से बचने के लिये वा अपनी बुद्धि का अतिशय जितलाने के लिये माना जाता है।

† वाचस्पति के मत से अभ्युपगमसिद्धान्त वह है, जो सूत्र में न कहा हो, पर माना हो, जैसे मन का इन्द्रिय होना गौतमने सूत्र में नहीं कहा, पर उसका अभ्युपगम (स्वीकार) है, अतएव यह अभ्युपगम सिद्धान्त है।

यहां "पर्वत में अग्नि है" यह **प्रतिज्ञा** (दावा) है, "क्योंकि यहां धूम है" यह **हेतु** (अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि का साधन) है। "जहां २ धूम होता है, वहां २ अग्नि होती है जैसे रसोई में" यह **उदाहरण** (मिसाल) है "वैसा यह पर्वत है" यह **उपनय** है, "इसलिये इसमें अग्नि है" यह **निगमन** (उपसंहार) है।

(२८) तर्क।

युक्ति **तर्क** है, इसका काम प्रमाणों की सहायता है। युक्ति द्वारा जब असम्भव अर्थ कट जाते हैं, और सम्भव अर्थ रहजाता है, तो उसको प्रमाण द्वारा सिद्ध कर लिया जाता है, जैसे—यह जो ज्ञाता है, वह क्या देह है, वा इन्द्रिय हैं, वा इनसे कोई अलग ही है? यह संशय है। यहां यह युक्ति प्रवृत्त होती है, कि यदि देह ज्ञाता होता, तो बाल्यावस्था में जाने हुए का बुढ़ापे में स्मरण न होता, क्योंकि वह जानने वाला देह अब नहीं रहा है, और यदि इन्द्रिय ज्ञाता होते, तो आंख से देखे हुए की त्वचा से प्रत्यभिज्ञा न होती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा उसी को होती है, जिसने पहले जाना हो, इस प्रकार युक्ति द्वारा देह और इन्द्रियों का ज्ञाता होना जब कट गया, तो अब यह सम्भव होगया है, कि ज्ञाता इनसे अलग होगा। अतएव अब देह और इन्द्रियों से अलग सिद्ध करने वाले प्रमाणों की निर्विघ्न प्रवृत्ति होसकेगी। इसके विना प्रमाणों में शंका बनी रहती है। जैसे जब यह कहाजाए, कि ज्ञाता देह और इन्द्रियों से अलग है, क्योंकि देखने और छूने से एक अर्थ को ग्रहण करता है, तो इस पर यह आशंका बनी रहेगी, कि रहो देखने छूने से एक अर्थ का ग्रहण, तथापि ज्ञाता अलग क्यों हो। इसी आशंका का को **अप्रयोजकत्वाशंका** कहते हैं। तर्क इसको मिटाता है।

पक्ष प्रतिपक्ष के द्वारा विचार करके जो अर्थ का निश्चय

(२९) निर्णय।

करना है, वह **निर्णय** है, यद्यपि अनेक बार उत्तरोत्तर युक्तियों से एक पक्ष का स्थापन और दूसरे पक्ष का खण्डन होता रहता है, तथापि अन्त में एक पक्ष अवश्य प्रबल ठहरता है। पर निर्णय में यह नियम नहीं है, कि सर्वत्र पक्ष प्रतिपक्ष के द्वारा ही निर्णय हो, क्योंकि प्रत्यक्षादि से भी अर्थ का निर्णय होता है, किन्तु परीक्षा के विषय में निर्णय पक्ष प्रतिपक्ष द्वारा विचार से ही होता है।

(३०) वाद, जल्प और वितण्डा।

तीन प्रकार की **कथा** (बात चीत) होती है—**वाद, जल्प** और **वितण्डा**। जो तत्त्व का जिज्ञासु है, उसकी कथा **वाद** है। इसमें जो पक्ष प्रतिपक्ष लिये जाते हैं, उनमें कोई हार जीत का अभिप्राय नहीं होता, किन्तु तत्त्व के निर्णय का अभिप्राय होता है। अतएव इस में प्रमाण और तर्क से ही काम लिया जाता है, न कि छल आदि से। और विजिगीषु (जीतने की इच्छा वाले) की कथा **जल्प** है। विजिगीषु का अभिप्राय निर्णय का नहीं होता, किन्तु जीत का ही होता है, इसलिये वह अपने पक्ष की पुष्टि में छल जाति आदि का भी प्रयोग करता है॥ और अपने पक्ष की स्थापना से हीन जो कथा है वह **वितण्डा** है। केवल दूसरे के पक्ष पर आक्षेप किये जाना, प्रमाण से, तर्क से, छल से, जाति से, सब तरह आक्षेप किये जाना, बस यही **वैतण्डिक** का काम होता है। यह निकृष्ट कथा प्रायः ईर्ष्या से प्रवृत्त होती है। इसलिये वैतण्डिक के साथ कथा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, वा धक्के से उसका पक्ष स्थापन कर लेना चाहिये, ताकि हिल न सके।

(२१) हेत्वाभास।

जो वस्तुतः हेतु नहीं और हेतु की नाईं भासे, वह **हेत्वाभास** होता है। हेत्वाभासको **असद्धेतु** और वास्तव हेतु को **सद्धेतु** भी कहते हैं।

(२२) हेत्वाभास के पांच भेद

हेत्वाभास पांच प्रकार का है—**सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम** और **कालातीत**।

(२३) सव्यभिचार

जो हेतु अपने साध्य से व्यभिचारी हो, अर्थात् जहां साध्य नहीं, वहां भी होसके, वह **सव्यभिचार हेत्वाभास** होता है। जैसे कोई कहे—शब्द निस है, क्योंकि वह स्पर्शवाला नहीं। जो स्पर्शरहित है, वह निस है जैसे आत्मा, वैसाही यह शब्द है, इसलिये यह भी वैसा है। यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि स्पर्श रहितबुद्धि है, और वह अनिस है।

(२४) विरुद्ध

माने हुए अर्थ का विरोधी हेतु **विरुद्ध** है। जैसे शब्द निस है, क्योंकि कार्य है। यह कार्य होना निसता का विरोधी है, न कि साधक।

(२५) प्रकरणसम

जिस से प्रकरण चल रहा हो, उसको हेतु के तौर पर कहना **प्रकरणसम** है। जैसे शब्द अनिस है, क्योंकि उसमें निस का धर्म उपलब्ध नहीं होता। यहां इसी से तो विचार चल रहा है, कि उसमें निस का वा अनिस का धर्म उपलब्ध नहीं होता। पर जैसे निसका नहीं होता, वैसे अनिस का भी नहीं होता, सो यह दोनों पक्षों के विशेष धर्म की अनुपलब्धि ही प्रकरण को चला रही है। यदि शब्द में निस धर्म उपलब्ध होजाए, तो प्रकरण निवृत्त होजाए, यदि वा अनिस धर्म उपलब्ध हो, तो

भी प्रकरण निवृत्त होजाए। सो यह हेतु दोनों पक्षों को प्रवृत्त करने वाला है, यह एक के निर्णय के लिये समर्थ नहीं होसक्ता। क्योंकि ऐसी जगह दूसरा विरोधी हेतु भी साथ ही जागता है। जैसे यह कहा है, कि शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्य के धर्म की अनुपलब्धि है, वैसे यह भी कहा जासक्ता है कि शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्य के धर्म की अनुपलब्धि है। इसी अभिप्राय से प्रकरणसम को नवीनों ने **सत्प्रतिपक्ष** कहा है, अर्थात् जिस हेतु का प्रतिपक्ष हेतु विद्यमान है।

(३६) साध्यसम.

जो हेतु स्वयं सिद्ध नहीं, उसको **साध्यसम** कहते हैं। जैसे छाया द्रव्य है, क्योंकि गतिवाली है। यहां छाया का गतिवाला होना भी साधने योग्य है, कि क्या पुरुष की नाईं छाया भी चलती है, वा तेज को रोकने वाले शरीर के चलने से तेज के अभाव का आगे २ सिलसिला होता जाता है। आगे २ बढ़ते हुए शरीर से जो २ तेज का भाग रोक लिया जाता है, उस २ की असन्निधि ही वहां छाया होजाती है। सो छाया का चलना आपही असिद्ध है, वह किसी दूसरे का साधक नहीं होसक्ता। अतएव नवीनों ने **साध्यसम को असिद्ध** कहा है।

(३७) कालातीत

जो हेतु साध्य के काल में न हो, वह **कालातीत** कहलाता है जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि संयोग से व्यक्त होता है, जैसे प्रदीप और घट के संयोग से रूप व्यक्त होता है, नकि उत्पन्न होता है, इसीप्रकार भेरी दण्ड के संयोग से शब्द व्यक्त होता है, न कि उत्पन्न होता है, इसलिये नित्य है। यहां हेतु **कालातीत** है, क्योंकि व्यङ्ग्य (व्यक्त होने योग्य) का व्यक्त होना

व्यञ्जक के कालमें होता है,जैसे प्रदीप के संयोगकालमें रूपका ग्रहण होता है; निवृत्त होने पर नहीं होता । पर भेरी और दण्ड का संयोग निवृत्त होजाने पर भी दूरस्थ पुरुष से शब्द सुना जाता है । इसी लिये यह संयोग से व्यङ्ग्य नहीं,किन्तु उत्पाद्य है । इसी को **कालात्ययापदिष्ट** या **बाधित** भी कहते हैं । यह पांच हेत्वाभास हैं, वार्तिक में इनके अवान्तर भेद बहुत से लिखे हैं ।

(३८) छल — दूसरे अभिप्राय से कहे हुए शब्द का दूसरा अभिप्राय कल्पना करके दूषण देना **छल** है ।

(३९) छल के तीन भेद — वह तीन प्रकार का है, **वाक्छल, सामान्य छल** और **उपचारछल** ।

(४०) वाक्छल — सामान्य शब्द को वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध विशेष अर्थ में लेजाना **वाक्छल** है । जैसे किसी ने कहा "**नवकम्बलोऽयं पुरुषः**" यहां कहने वाले का अभिप्राय यह है, कि 'यह पुरुष नये कम्बलवाला है' पर नवकम्बल शब्द के दो अर्थ होसक्ते हैं, नये कम्बलवाला और नौ कम्बलों वाला । सो यहां छलवादी दूसरे अर्थ को लेकर उसे दूषण देता है, कि 'कहां है इसके नौ कम्बल' । इसके तो एकही कम्बल है ॥ इस छलवादी की रोक यह है, कि नवकम्बल शब्द जो दो विशेष अर्थों का एक सामान्यशब्द है, उनमें से जो तुमने एक अर्थ की कल्पना करली है, इसका क्या हेतु है । क्योंकि विना विशेष निश्चायक के अर्थ विशेष का निश्चय नहीं होसक्ता है, कि यह अर्थ इसको अभिमत है । और वह विशेष तेरे अर्थ में है नहीं, इसलिये यह तेरा दूषण चल नहीं सकता है । लोक में बहुतेरे सामान्य शब्द कहे जाते हैं, जैसे गौ ला, और दूध ला इत्यादि । गौ सारी गौओं के लिये और

दूध सारे दूधों के लिये बोला जाता है, पर लाने वाला उस गौ वा दूध को लाएगा, जो वक्ता को अभिप्रेत है। न कि बिना विशेष निश्चायक के आपही विशेष कल्पना करके किसी की गौ और किसी का दूध लेआएगा, और दोष वक्ता को देगा।

(४१) सामान्यछल। प्रशंसावाद वा प्रायोवाद से कहे हुए वचन को हेतुपरक वा नियमपरक लेजाना **सामान्यछल** है। जैसे किसी ने कहा, कि अहो वह ब्राह्मण-पुत्र कैसा विद्या और धर्म से सम्पन्न है, इस पर कोई कहे कि ब्राह्मणसुत में विद्या और धर्म की सम्पत्ति होती ही है। इस वचन पर यह दूषण देना, कि "यदि ब्राह्मणसुत विद्या और धर्म से सम्पन्न होता ही है तो व्रात्य (संस्कारहीन) भी विद्या और धर्म से सम्पन्न हो, क्योंकि वह भी ब्राह्मणसुत है" यह **सामान्यछल** है। इसका उत्तर यह है, कि यहां ब्राह्मणपुत्र में विद्या और धर्म की सम्पत्ति के अधिक सम्भव होने से उसकी प्रशंसा की है, न कि ब्राह्मण-पुत्र होना विद्या और धर्म की सम्पत्ति का हेतु कहा है, उसको हेतु बनाकर दूषण देना मिथ्या है। इसी प्रकार "**रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः**"=रात प्राणियों के सोने के लिये और दिन काम के लिये है (मनु०) यह प्रायोवाद है, न कि नियम कियाहै, इसलिये इसपर यह दूषण देना कि रात को भी उल्लू आदि प्राणी जागते हैं, इसलिये यह वचन ठीक नहीं, मिथ्या है।

(४२) उपचारछल। उपचार से कहे हुए शब्द को मुख्य अर्थ में लेकर दूषण देना **उपचारछल** है। जैसे "**मञ्चाः क्रोशन्ति**" मचान पुकार रहे हैं। इस पर यह दूषण देना कि "मचानों पर बैठे हुए पुरुष पुकार रहे हैं, न कि मचान"

यह उपचारछल है। क्योंकि यहां मचान शब्द मुख्य नहीं, किन्तु गौण है, मञ्चस्थपुरुषों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, प्रधान और गुण शब्द का प्रयोग वक्ता की इच्छा पर होता है, और अर्थ उसी के अभिप्राय से लिया जाता है, जब वह प्रधानशब्द का प्रयोग करता है, तो मुख्य अर्थ लेना चाहिये, और जब गौण शब्द का प्रयोग करता है, तो गौण अर्थ लेना चाहिये।

(४३) जाति।

असत् उत्तर **जाति** है जब कोई सच्चा उत्तर न फुरे, तो साधर्म्य वैधर्म्य को लेकर ही जो समय टाला जाता है, वह जात्युत्तर होता है।

(४४) जाति के चौबीस भेद।

साधर्म्यसमा,वैधर्म्यसमा इत्यादि चौबीस जातियें हैं। जो साधर्म्य से स्थापनाहेतु का दूषक उत्तर है, वह **साधर्म्यसमा** है, जैसे "परमात्मा सक्रिय है, क्योंकि क्रिया का हेतु जो गुण है, वह उसमें पाया जाता है, जैसे ढेले में" (यहां क्रिया का हेतु गुण क्रियाजनकवायुसंयोगादि लेना) इस स्थापना में यह उत्तर "कि यदि सक्रिय के साधर्म्य से सक्रिय मानो, तो विभुतारूप जो निष्क्रिय का साधर्म्य है, उससे निष्क्रिय ही क्यों न हो, इसमें कोई विनिगमक* नहीं है" यह असदुत्तर इसलिये है, कि इससे निष्क्रियता सिद्ध नहीं हुई॥ १॥ वैधर्म्य से जो दूषक उत्तर हो, वह **वैधर्म्यसमा** है। जैसे उसी अनुमान में "क्रिया वाले ढेले के साधर्म्य से यदि क्रियावान् है परमात्मा" तो विभुत्वरूप जो उससे वैधर्म्य है, उससे निष्क्रिय ही क्यों न हो, क्योंकि उसके साधर्म्य

---

* संदिग्धों में से एक का निर्णय कर देने वाला हेतु **विनिगमक** हेतु कहलाता है। और ऐसी युक्ति को **विनिगमना** कहते हैं।

से क्रियावान् होना चाहिये, वैधर्म्य से निष्क्रिय नहीं होना चाहिये" इसमें कोई विनिगमक नहीं है* ॥ २ ॥ दूसरे के हेतु से ही उसके अव्यापक धर्म का पक्ष † में आपादन करना **उत्कर्षसमा** है, जैसे "शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे घड़ा" इस पर कोई कहे "यदि कृतकत्व हेतु से शब्द घट की नांई अनित्य हो, तो उसी हेतु से शब्द घट की नांई सावयव होगा" ॥ ३ ॥ दूसरे के कहे हुए दृष्टान्त के साधर्म्य से पक्ष में दूसरे के माने हुए धर्मान्तर का अभाव साधन **अपकर्षसमा** है, जैसे उसी अनुमान में "यदि कृतक होने से घट की नांई शब्द अनित्य हो, तो उसी हेतु से शब्द घट की नांई अश्रावण हो (श्रोत्रग्राह्य न हो) ॥ ४ ॥ स्थापन करने योग्य जो दृष्टान्त का धर्म है, उसका पक्ष † में साधन करना **वर्ण्यसमा** है। जैसे प्रथमोक्त अनुमान में कोई कहे "क्रिया का जनक जो नोदन संयोग है उस वाला होने से ढेलाआदि तो क्रियावान् हों, पर परमात्मा को क्रियावान् मानने में क्रियाजनकनोदन-संयोगवत्ता भी होगी" ॥ ५ ॥ साध्यधर्म और हेतुधर्म दोनों की पक्ष में तुल्यता साधन **अवर्ण्यसमा** है, जैसे उसी अनुमान में "ढेले आदि में जो क्रिया का जनक नोदनादि गुण है, वह परमात्मा में असिद्ध है। सो तुल्य होने से जैसे असिद्ध क्रियाजनक गुण से परमात्मा में क्रियावत्ता सिद्ध करते हो, वैसे वैसी क्रिया वत्ता से क्रियाजनकगुण वाला होना भी क्यों नहीं सिद्ध करते हो, क्योंकि इसमें कोई नियामक नहीं है ॥ ६ ॥ दृष्टान्त में विकल्प

---

* साधर्म्यसमा में विभु के साधर्म्य से निष्क्रियता सिद्ध की है, और वैधर्म्यसमा में सक्रियत्व के वैधर्म्य से निष्क्रियता सिद्ध की है, इतनामात्र साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा में भेद है, इसी प्रकार आगे भी सूक्ष्मभेद को जानना। † जिस में साध्य सिद्ध करना है।

दिखलाकर दार्ष्टान्तिक में विकल्प कहना **विकल्पसमा** है। जैसे उसी अनुमान में क्रियाजनकगुण वाली वस्तु कोई गुरु (भारी) होती है, जैसे ढेला आदि, कोई लघु (हलकी) जैसे वायु। इसी प्रकार क्रियाजनक गुण से युक्त कोई वस्तु क्रियावाली होगी जैसे ढेला आदि, कोई निष्क्रिय होगी जैसे परमात्मा। पहला विकल्प तो होता है, पर यह नहीं होता, इसमें क्या नियामक होगा॥ ७॥ दृष्टान्त की पक्ष के साथ तुल्यता कहनी **साध्यसमा** है (यहां साध्य शब्द पक्ष का वाची है) जैसे उसी अनुमान में "यदि, जैसे ढेला है, वैसे परमात्मा है" यह तुम कहते हो, तो "जैसे आत्मा है, वैसे ढेला है" यह भी आता है। सो यदि परमात्मा में क्रियावत्ता सिद्ध करते हो, तो ढेले में भी सिद्ध करनी चाहिये। "नहीं" यदि कहो, तो फिर जैसे ढेला है, वैसे आत्मा है, यह न कहना चाहिये। क्योंकि ढेले के सदृश परमात्मा है, पर परमात्मा के सदृश ढेला नहीं, इसमें कोई नियामक नहीं है॥ ८॥ हेतु और साध्य की प्राप्ति से तुल्यता कहनी **प्राप्तिसमा** है अर्थात् यदि पक्ष में हेतु और साध्य दोनों विद्यमान हैं, तो प्राप्ति में कोई भेद न होने से यह नियम कैसे हो, कि यह साधक और वह साध्य है। जैसे उसी अनुमान में 'क्रियाजनक गुणवाला होने से क्रियावाला होना ही क्यों सिद्ध करते हो, क्रिया वाला होने से वैसे गुणवाला होना क्यों सिद्ध नहीं करते, क्योंकि दोनों में कोई भेद नहीं है,। ९। हेतु और साध्य की अप्राप्ति से तुल्यता कहनी, **अप्राप्तिसमा** है, जैसे 'पूर्वोक्त दोष से यदि यह कहो, कि विना प्राप्त हुए हेतु साध्य का साधक है, तो अप्राप्ति में विशेषता न होने से सब का साधक होगा, यही हेतु साध्य के अभाव को भी क्यों नहीं सिद्ध कर देगा, क्योंकि इसमें कोई विनिगमक नहीं है,। १०।

साधन की परम्परा का प्रश्न **प्रसंगसमा** है, जैसे 'क्रियावाला होने में क्रियाजनक गुणवाला होना साधन है, क्रियाजनक गुणवाला होने में क्या साधन है, क्योंकि साधन के विना किसी की सिद्धि नहीं होती, इसी प्रकार फिर उसमें क्या साधन है, इत्यादि । ११ । दूसरे के दृष्टान्त से साध्य का अभाव साधन **प्रतिदृष्टान्तसमा** है, जैसे उसी अनुमान में ढेले के दृष्टान्त से क्रियावाला होना सिद्ध करने पर कहा जाए 'निष्क्रिय आकाश के दृष्टान्त से परमात्मा को निष्क्रियता ही क्यों न हो। ढेले के दृष्टान्त से क्रियावत्ता तो होती है, पर आकाश के दृष्टान्त से निष्क्रियता नहीं होती, इसमें कोई नियामक नहीं है' ।१२। अनुत्पत्ति से दूषण देना **अनुत्पत्ति-समा** है, जैसे 'शब्द नित्य नहीं है, क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर होता है' इसपर कोई कहे 'प्रयत्न के अनन्तर होना, जो अनित्यता का कारण है, वह उत्पत्ति से पहले शब्द में नहीं होता है, उसके न होने से शब्द नित्य ठहरता है, और यदि नित्य है, तो अनुत्पन्न (न उत्पन्न हुआ) ही है' । १३ । साधारण धर्म दिखलाकर संशय को उठाना **संशयसमा** है । जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि कार्य है' इस पर कोई कहे 'शब्द का अनित्यघट के साथ जैसे कार्यत्वरूप साधर्म्य है, वैसे नित्य जो शब्दत्व (शब्द गत जाति) है, उसके साथ श्रोत्र-ग्राह्य होना रूप साधर्म्य है, सो दोनों के साथ साधर्म्य से संशय होगा क्योंकि एक के निर्णय में कोई नियामक नहीं है' । १४ । वादी से कहे हुए हेतु के साध्य से विपरीत अर्थ का साधक और हेतु उठाना **प्रकरणसमा** है, **प्रकरणसम** हेत्वाभास का उदाहरण ही इसका उदाहरण जानो । १५ । तीनों कालों में ही हेतुता के असम्भव से अहेतुता कहनी **अहेतुसमा** है, जैसे 'कार्यत्वरूप साधन (हेतु)

अपने साध्य अनित्यत्व से यदि पूर्वकालवृत्ति है, तो उस काल में अनित्यरूप साध्य के अभाव से वह किसका साधक होगा, और यदि पश्चात्कालवृत्ति है, तो पूर्वकाल में साधन के अभाव से किस का साध्य अनित्यत्व होगा, और यदि दोनों एककालवृत्ति हैं, तो कौन किसका साधक और कौन किसका साध्य होगा, क्योंकि इस में कोई विनिगमक नहीं है'। १६। अर्थापत्ति के आश्रय से साध्य का अभाव उठाना **अर्थापत्तिसमा** है। जैसे पूर्वोक्त अनुमान में 'अनित्य के साधर्म्य से शब्द में अनित्यता है, तो अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ, कि नित्य के साधर्म्य से नित्यताभी होगी, क्योंकि दोनों में से एक के निर्णय में कोई नियामक नहीं है'। १७। सब के अविशेष का प्रसंग उठाना **अविशेषसमा** है। जैसे उसी अनुमान में 'यदि कृतक होना अनित्यघटादि के साथ साधर्म्य है, इसलिये शब्द अनित्य है, तो सत्‌होनारूप अनित्य घट के साधर्म्य को लेकर सारे ही द्रव्य गुण कर्म अनित्य होंगे। तेरे कहे हुए साधर्म्य से शब्द की अनित्यता तो सिद्ध होती है, पर मेरे कहे हुए से सब की अनित्यता नहीं सिद्ध होती, इस में कोई नियामक नहीं है'। १८। दोनों पक्षों के साधर्म्य से साधन की आपत्ति कहना **आपत्तिसमा** है, जैसे 'यदि अनित्यता का साधन कार्यत्व शब्द में बनसक्ता है, इसलिये शब्द अनित्य है, तो नित्यता का साधन भी कोई बनसक्ता है, इसलिये नित्यता क्यों नहीं'। १९। वादी से कहे हुए साधन के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि कहना **उपलब्धिसमा** है। जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नानुसारी है' इस पर कोई कहे 'प्रयत्न के विना भी वायु के नोदन के वश से वृक्ष की शाखा के टूटने से शब्द की उपलब्धि होती है। इसलिये शब्द प्रयत्नानुसारी नहीं है'। २०। वादी ने जब अनुपलब्धि के वश से किसी अर्थ का अनङ्गीकार किया हो, तो अनुपलब्धि वश

से ही वादी के अभिमत भी किसी पदार्थ का अभाव साधन **अनुपलब्धिसमा** है, जैसे 'विद्यमान जलादि की भी आवरण (ढकने) के वश से अनुपलब्धि होती है, तद्वत् विद्यमान शब्द की भी आवरण के वश से अनुपलब्धि होगी' इस मत को जब वादी ने इसतरह दूषित किया, कि "यदि आवरण के वश से शब्द न उपलब्ध हो, तो जलादि के आवरण की नाईं शब्द का भी आवरण उपलब्ध हो' इस पर जाति वादी कहे, कि "यदि अनुपलब्धि से आवरण का अभाव मानते हो, तो अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से आवरण की सिद्धि होगी'। २१। धर्म की नित्यता अनित्यता के विकल्प से धर्मी की नित्यता का साधन **नित्यसमा** है। जैसे "शब्द की जो अनित्यता तुम कहते हो वह शब्द में नित्य है वा अनित्य। यदि नित्य है, तो धर्म के नित्य होने से धर्मी भी नित्य होगा, इसलिये शब्द नित्य है। और यदि अनित्य है, तो शब्दवृत्ति अनित्यता के अनित्य होने से शब्द नित्य ही सिद्ध होता है, इसप्रकार दोनों तरह से शब्द नित्य सिद्ध होता है'। २२। अनित्य दृष्टान्त के साधर्म्य से सब की अनित्यता का प्रसङ्ग उठाना **अनित्यसमा** है। जैसे "यदि अनित्य घट के सादृश्य से शब्द को अनित्य कहते हो, तो किसी न किसी धर्म्म से सब ही उसके सदृश हैं, इसलिये सब ही अनित्य ठहरेंगे'। २३। वादी से कहे हुए हेतु का अन्य कार्य से भी सम्भव कहना **कार्यसमा** है, जैसे उसी अनुमान में, 'प्रयत्नानुसारी होना दोनों प्रकार से ही बन सक्ता है—घटादि की नाईं शब्द को उत्पत्ति वाला मानो, चाहे जलादि की नाईं आवरकवाला (परदे में छपा हुआ) मानो, क्योंकि दोनों ही जगह प्रयत्नानुसारी होना देखा गया है। सो प्रयत्न का कार्य्य जब आवरण की निवृत्ति भी बन

सक्ता है, तो इस से अनित्यता की सिद्धि नियत नहीं होसक्ती"। २४। यह चौवीस जातियां हैं, उनके सूक्ष्म प्रकार और भी हैं।

(४५) निग्रहस्थान

उत्तर का न फुरना वा उलटा फुरना **निग्रह-स्थान** अर्थात् पराजय की जगह है।

(४६) निग्रहस्थान के बाईस भेद

निग्रहस्थान बाईस प्रकार का है। उनमें से प्रतिज्ञात अर्थ का परित्याग **प्रतिज्ञाहानि** है। उदाहरण—इन्द्रियों का विषय होने से शब्द अनित्य है, घट की नाईं। इस पर दूसरा कहे, कि इन्द्रियों का विषय सामान्य(जाति)नित्य है, शब्द भी वैसा क्यों न हो। तो फिर पूर्ववादी कहे, कि यदि इन्द्रियों का विषय सामान्य नित्य है, तो भले शब्द भी नित्य हो, इसप्रकार पहली प्रतिज्ञा का परित्याग प्रतिज्ञाहानि है।१। दूसरे के कहे हुए दूषण को हटाने के लिये पहली प्रतिज्ञा में नया विशेषण डालकर नई प्रतिज्ञा बनाना **प्रतिज्ञान्तर** है। जैसे "पृथिवी आदि गुण-जन्य हैं, क्योंकि कार्य हैं। इस अनुमान में वादी को ईश्वरेच्छा वा ज्ञान वा कृति से जन्य सिद्ध करना है। इस पर यदि कोई अदृष्टजन्य होने से सिद्धसाधनता कहे, तब ईश्वरवादी अपनी प्रतिज्ञा में यह नया विशेषण लगाए, कि 'सविषयकगुणजन्य हैं'। तो यह प्रतिज्ञान्तर है। सविषयक गुण ज्ञान इच्छा कृति हैं। दूसरे नहीं।२। अपने कहे हुए साध्य के विरुद्ध हेतु कहना **प्रतिज्ञाविरोध** है, जैसे 'द्रव्य गुण से भिन्न है, क्योंकि रूपादि से अलग उपलब्ध नहीं होता है'। ३। दूसरे के दूषण देने पर प्रतिज्ञात अर्थ का अपलाप (इन्कार) **प्रतिज्ञासंन्यास** है, जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रिय का विषय है' इस परजब दूसरे ने सामान्य(जाति) में व्यभिचार उठाकर

दूषण दिया, तो अपने कहे का अपलाप करना, 'कौन कहता है, शब्द अनित्य है' प्रतिज्ञा संन्यास है । ४ । दूसरे के कहे दूषण को उखाड़ने के लिए पहले कहे हेतु में नया विशेषण डालना **हेत्वन्तर** है । जैसे 'शब्द अनित्य है, प्रत्यक्ष होने से' इसका जब सामान्य में व्यभिचार दिखलाया, तो हेतु में यह विशेषण देदिया, कि 'जाति वाला होकर (प्रत्यक्ष होने से)' । ५ । प्रकृत के अनुपयोगी अर्थ का कहना **अर्थान्तर** है, जैसे 'शब्द नित्य है, स्पर्श वाला न होने से' यह हेतु है । हेतु पद तु प्रत्यय आकर हि धातु से बनता है, पद उसको कहते हैं जिसके अन्त कोई विभक्ति हो इत्यादि । ६ । अवाचक शब्द का प्रयोग **निरर्थक** है, जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि जब गड़दश है, इत्यादि । ७ । परिषत् और प्रतिवादी के बोध के अजनक पदों का प्रयोग **अविज्ञातार्थ** है, यह अन्वय क्लिष्ट होना वा अप्रसिद्धार्थक होना, वा बहुत जल्दी उच्चारण करना' इत्यादि रूप है । ८ । परस्पर असम्बद्ध अर्थ वाले पदों का समूह **अपार्थक** है, जैसे 'शब्द, घट, पट, नित्य और अनित्य हैं, क्योंकि प्रमेय हैं,' इत्यादि । ९ । (प्रतिज्ञा आदि) अवयवों का उलटे क्रम से कहना **अप्राप्तकाल** है, जैसे 'शब्द होने से शब्द अनित्य है' । १० । किसी अवयव से शून्य अवयवों का कहना **न्यून** है । ११ । अधिक हेतु आदि कहना **अधिक** है, जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह शब्द है, क्योंकि वह श्रोत्रग्राह्य है' इत्यादि । १२ । अनुवाद के बिना कहे हुए का फिर कहना **पुनरुक्त** है, जैसे 'शब्द अनित्य है, शब्द अनित्य है' इत्यादि । १३ । परिषत् से तीनवार कहे हुए का भी अनुवाद न करना **अननुभाषण** है । १४ । परिषत् ने तो

जानलिया है और तीन बार कहदिया है, तौ भी वाक्यार्थ का न जानना **अज्ञान** है। १६। दूसरे के कहे हुए को उत्तर के योग्य जानकर भी उत्तर के न फुरने के वश से चुप होना **अप्रतिभा** है। दूसरे समय में न होसकनेवाले किसी कार्य का अवश्य करना वतलाकर कथा का बन्द करना **विक्षेप** है। १७। अपने पक्ष में दोष को न हटाकर दूसरे के पक्ष में दोष देना **मतानुज्ञा** है। १८। उठाने योग्य दूसरे का जो निग्रहस्थान है, उसका न उठाना **पर्यनुयोज्योपेक्षण** है। १९। निग्रहस्थान से रहित स्थल में निग्रह-स्थान का उठाना **निरनुयोज्यानुयोग** है। २०। कथा में स्वीकार किये सिद्धान्त से गिरजाना **अपसिद्धान्त** है। २१। **हेत्वाभास** पूर्व कह आए हैं। २२। इनमें से अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, यह न फुरनारूप निग्रह स्थान हैं, शेष उलटाफुरनारूप ॥

इन सोलह पदार्थों में से प्रमेय के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान इस क्रम से मोक्ष का हेतु है—

(४७)मुक्ति का क्रम। **दुःखजन्म प्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञाना-नामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद-पवर्गः** (न्या० १।१।२) ॥

अर्थ—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्म, अधर्म) दोष (राग, द्वेष मोह) और मिथ्याज्ञान इनमें से उत्तर२के नाश में उससे२ अनन्तर(पूर्व) का नाश होने से **अपवर्ग** (मोक्ष) होता है। शरीर को आत्मा समझना इत्यादि जो मिथ्याज्ञान है, उससे रागद्वेष उत्पन्न होते हैं, रागद्वेष से पुण्यपाप, पुण्यपाप से जन्म, जन्म से दुःख। यह सिलसिला संसार

चक्र का है। अब जब आत्मा का तत्त्वज्ञान होता है, तो तत्त्वज्ञान से साक्षात् दुःख का नाश नहीं होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान का विरोधी है, न कि दुःख का। इसलिये तत्त्वज्ञान से मिथ्यानज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से रागद्वेष का, रागद्वेष के नाश से पुण्यपाप का अर्थात् जिस में रागद्वेष नहीं, उसकी प्रवृत्ति पुण्यपाप के संस्कारों से रहित होती है) पुण्यपाप के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःख का नाश होता है। दुःख का अत्यन्तनाश ही **मोक्ष** है॥

(छटा—सांख्यदर्शन)

इस दर्शन के प्रवर्तक **कपिलमुनि** हैं, अतएव इस दर्शन को

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक।

कापिल दर्शन कहते हैं। और प्रकृति से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त सारे तत्त्वों की संख्या कहने से **सांख्य दर्शन** कहते हैं॥

इस दर्शन का उद्देश्य प्रकृति पुरुष की विवेचना करके उनके

(२) इस दर्शन का उद्देश्य।

अलग २ स्वरूप को दर्शाना है, क्योंकि प्रकृति से अपने आपको विविक्त न देखता हुआ ही पुरुष बद्ध है, और विविक्त देखता हुआ ही मुक्त होता है॥

यह प्रसिद्धि है, कि **कपिलमुनि** ने बाईस सूत्र रचकर

(३) सांख्य का प्रचार।

आसुरिमुनि को उपदेश किये। आसुरिमुनि ने **पञ्चशिखाचार्य** को, पञ्चशिखाचार्य ने सविस्तर शास्त्र रचा। योगदर्शन के व्यास भाष्य में जो सूत्र प्रमाणतया उद्धृत किये हैं, वह सब पञ्चशिखाचार्य

के हैं। यह सूत्र बड़े ही सुन्दर और गम्भीर हैं। पर यही उद्धृतसूत्र अब हमारे पास थोड़े से रहगए हैं। मूलग्रन्थ लुप्त होगया है॥

(४) वर्तमान सांख्य दर्शन और सांख्य कारिका।

वर्तमान सांख्य दर्शन भी कपिल मुनि का बनाया हुआ कहागया है। पर इसमें भी कोई संदेह नहीं, कि प्राचीन आचार्यों (शंकराचार्य, वाचस्पतिमिश्र आदियों) ने इसका कोई भी सूत्र उद्धृत नहीं किया, पर सांख्य की कारिकाएं बहुधा उद्धृत की हैं। और टीका भी वाचस्पतिमिश्र की की हुई इन कारिकाओं पर जो है, वहवर्तमानदर्शनके विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य से पुरानी है। यह कारिकाएं आर्या छन्द में ईश्वरकृष्ण ने बनाई हैं। सूत्रवत् संक्षेप से सांख्य का सारा विषय इन कारिकाओं में दिखलायागयाहै।

(६) सांख्यसम्मत पच्चीस पदार्थ।

प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, पञ्चमहाभूत और पुरुष यह पच्चीसतत्त्व हैं॥

प्रकृति उसको कहते हैं, जिससे कोई वस्तु बने, और जो

(७) प्रकृति विकृति भाव।

बने उसको **विकृति** कहते हैं। जैसे मट्टी से घड़ा बनता है। यहां मट्टी प्रकृति है और घड़ा विकृति (वा विकार) है॥

(८) सांख्य सम्मत पदार्थों के चारप्रकार

अब इन पचीस अर्थों में से कोई अर्थ **केवल प्रकृति** है, कोई **प्रकृतिविकृति** है, कोई **केवलविकृति** है, कोई **न प्रकृति न विकृति** है। जो मूल प्रकृति है अर्थात् जिससे आगे बनना आरम्भ

हुआ है, पर वह आप किसी से नहीं बनी, वह **केवलप्रकृति** है, वही मुख्य प्रकृति है, इसलिये इसी को ऊपर **प्रकृति** कहा है। और मुख्य प्रकृति होने से ही इसको **प्रधान** कहते हैं। **अव्यक्त** भी इसी का नाम है। इस प्रकृति में जब सृष्टि के लिये क्षोभ (हिल चल) होता है, तो पहले पहल जो तत्त्व इससे उत्पन्न होता है, उसका नाम है **महत्**, फिर जो **महत्** से उत्पन्न होता है, उसका नाम है **अहङ्कार** फिर **अहङ्कार** से **पञ्चतन्मात्र** (अर्थात् रूप-तन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और शब्दतन्मात्र) और ग्यारह इन्द्रिय (वाणी, हाथ, पाद, पायु और उपस्थ, यह पांच कर्मेन्द्रिय, नेत्र, श्रोत्र, प्राण, रसना, और त्वचा यह पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवां मन)। पञ्चतन्मात्रों से पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं(गन्ध तन्मात्र से पृथिवी, रसतन्मात्र से जल, रूपतन्मात्र से तेज, स्पर्शतन्मात्र से वायु और शब्द तन्मात्र से आकाश)। इन में से महत् अहङ्कार की प्रकृति और प्रधान की विकृति है, इसी प्रकार अहङ्कार तन्मात्र और इन्द्रियों की प्रकृति और महत् की विकृति है, और पञ्चतन्मात्र पञ्च महाभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति हैं। इसलिये महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र यह **प्रकृति-विकृति** हैं। और ग्यारह इन्द्रिय और पञ्च महाभूत **केवल विकृति** हैं, क्योंकि यह उत्पन्न हुए हैं, पर इनसे आगे कुछ उत्पन्न नहीं होता (प्रश्न) यहां पृथिवी आदि की भी गौ वृक्ष आदि विकृति हैं, और उनकी भी आगे दधि अंकुर आदि विकृति हैं। (उत्तर) जैसे पृथिवी स्थूल है और इन्द्रियग्राह्य है, इसी प्रकार गौ वृक्षादि हैं। इसलिये गौ आदि पृथिवी आदि से कोई अलग तत्त्व नहीं। और यहां ऐसी विकृति से अभिप्राय है,जो अपनी प्रकृति से एक अलग ही

तत्व होजाए, इसलिये यह केवल विकृति ही कहे हैं। अब पुरुष **न प्रकृति न विकृति** है। न उससे कुछ बनता है, न वह किसी से बना है। जैसाकि कहा है– "**मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोड़शकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः**"=मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं है महत् आदि सात (महत्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र) प्रकृतिविकृति हैं। सोलह (पञ्चमहाभूत और ग्यारह इन्द्रिय) विकृति हैं, और पुरुष न प्रकृति है न विकृति है (सां० का० ३)।

(८) तीन प्रमाण।

दृष्ट मनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्। त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥ प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है,इसलिये तीन प्रकार का प्रमाण माना है-**प्रत्यक्ष,अनुमान और शब्द**। और सारे प्रमाण इन्हीं के अन्तर्गत आजाते हैं।

(१०) सत्कार्यवाद और कार्यकारण का अभेद।

जो कुछ इस जगत् में है, वह सदा से है, और जो नहीं है, वह कभी भी नहीं होता है। नया कार्य उत्पन्न होता हुआ जो हमें प्रतीत होता है, वह भी नया नहीं होरहा, पहले ही था, पहले अव्यक्त (छिपा हुआ) था, अब व्यक्त हुआ है, जैसे पीलने से तिलों में से तेल, कूटने से धान में से चावल, और दोहने से गौओं में से दूध व्यक्त होता है, इसी तरह दूध से दही और दही से मक्खन व्यक्त होते हैं। यदि उनमें पहले ही न होते, तो कभी व्यक्त न होते। इसी तरह मट्टी में घड़ा और तन्तुओं में वस्त्र पहले ही विद्यमान थे, पहले अव्यक्त थे, अब व्यक्त हुए हैं।

क्योंकि मट्टी की ही अवस्थाविशेष घड़ा है और तन्तुओं की ही अवस्थाविशेष वस्त्र है। अतएव घड़ा मट्टी से और वस्त्र तन्तुओं से कोई अलग वस्तु नहीं। जैसे सोने के भूषण सोना हैं, वैसे मट्टी के बर्तन मट्टी हैं। (प्रश्न) जब कार्य अपने कारण में पहले ही विद्यमान है, तो उसकी उत्पत्ति के लिये यत्न करना व्यर्थ है (उत्तर) विद्यमान होता हुआ भी अव्यक्तावस्था में है, उसको व्यक्त करने के लिये यत्न किया जाता है, जैसे विद्यमान ही तेल को व्यक्त करने के लिये तिलों को पीला जाता है। यह इस तरह कार्य्य को उत्पत्ति से पहले ही सत् (विद्यमान) मानना **सत्कार्यवाद** है। सत्कार्यवाद में कार्य कारण का अभेद माना जाता है, क्योंकि हरएक कार्य अपने कारण की बहुतसी अवस्थाओं मेंसे एक अवस्थाविशेष है। और नाश भी अभाव नहीं, किन्तु कारण में लय होना है, जैसे वर्फ का पिघल कर फिर पानी होजाना। और पानी का फिर भाप हो जाना। इसलिये सांख्य का सिद्धान्त यह है—"**नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम्**"=जो नहीं है, उसको स्वरूपलाभ नहीं होता, और जो है, उसका स्वरूप नाश नहीं होता।

(११) परिणामवाद

जो कुछ इस जगत् में होरहा है, यह सारा परिणाम का फल है, अर्थात् हरएक वस्तु बदल रही है, दूध दही बन जाता है, और पानी वर्फ। बीज अंकुर बन जाता है, और अंकुर एक बड़ा बनस्पति। इसप्रकार सर्वत्र ही परिणाम होरहा है।

(१२) परिणाम का कारण

इस परिणामका कारण गुणोंका अपना स्वभाव है, क्योंकि "**चलं हि गुणवृत्तम्**" चलना गुणों का स्वभाव है, वह कभी ठहरे नहीं रहते, इसलिये उनमें परि-

वर्तन होता ही रहता है।

(१३) सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम

जो वस्तु चिरकाल तक एक ही रूप में दीखती है, वह भी परिणत होरही है, जैसे एक पत्थर क्षण २ में परिणत होरहा है, और इसीलिये वह भी कभी जाकर बोदा होजाता है। भेद केवल इतना होता है, कि कभी सदृश परिणाम होता है और कभी विसदृश। जब तक दूध २ है, तब तक उसमें सदृशपरिणाम होरहा है, जब वह दही बनने लगता है, तो विसदृश परिणाम प्रवृत्त होता है। पर परिणाम दूध की अवस्था में भी होरहा है, अतएव ताज़ह दूध से देर के दोहे हुए का प्रभाव बदल जाता है। गुण कभी ठहरते नहीं, इसलिये प्रलयावस्था में भी उनका सदृशपरिणाम होता रहता है, जब सृष्टि की ओर झुकते हैं, तो विसदृश परिणाम होता है।

(१४) विसदृश परिणाम में विलक्षणता

विसदृश परिणाम अपने कारण से सदा विलक्षण होता है, पर कभी २ इतना विलक्षण, कि बुद्धि अतीव आश्चर्य मानती है। कहां मनुष्य का बीज और कहां उससे हाथ पाओं आदिवाला शरीर। वस्तुतः इस विसदृश परिणाम का ही फल है, कि एक रूप प्रकृति से असंख्यात नानारूप बन गए हैं।

(१५) तीन गुण और उनकी पहचान

सत्त्व, रजस्, तमस् यह तीनगुण हैं। इनमें से सत्त्व सुखात्मक है। अन्तःकरण में जब सत्त्वगुण का उदय होता है, तो उसका सुखात्मक परिणाम होता है। एवं रजस् दुःखात्मक और तमस् मोहात्मक है। हरएक वस्तु सुख दुःख और मोह की जनक है, अतएव हरएक वस्तु त्रिगुणात्मक है।

हरएक वस्तु त्रिगुणात्मक है, पर हरएक वस्तु में कोई एक

(१६) प्रकृति में यह तीनों गुण साम्यावस्था में हैं, और कार्य्य में विषमावस्था में

गुण प्रधान होता है, और दूसरे गौण। प्रकाशक वस्तुओं में सत्त्व प्रधान है, चञ्चलात्मक में रजस्, और ठोस में तमस्। तथा एक ही वस्तु में भी द्रष्टा की रुचिभेद से भिन्न २ गुणों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे एक सत्पुत्र को देखकर पिता को सुख होता है, क्योंकि उसके प्रति उसके सत्त्वगुण की अभिव्यक्ति होती है। पर उसके शत्रुओं को दुःख होता है, क्योंकि उनके प्रति रजोगुण की अभिव्यक्ति होती है। और अन्यजनों को मोह होता है, क्योंकि उनके प्रति तमोगुण की अभिव्यक्ति होती है। इसीप्रकार सारे भाव जानो। सो उत्पत्ति वाली जो नाम वस्तु है, उसमें गुणों का विषमभाव है, कोई एक गुण प्रधान और दूसरे दो अप्रधान होते हैं। पर प्रलय में यह विषमता नहीं होती, सारे गुण साम्यावस्था में होते हैं। **गुणों की इस साम्यावस्था को ही प्रकृति कहते हैं।** अर्थात् यह साम्यावस्था असली अवस्था है, इस असली अवस्था का नाम प्रकृति है, उसमें भी तीनों गुण हैं। इसी अवस्था को प्रलयावस्था कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में सारी बनावट अपने असली स्वरूप में लीन हुई होती है। और कार्य्य जगत् इसमें अव्यक्त होता है, इसलिए इसको अव्यक्त कहते हैं। विषमता सदा पीछे आती है, गुणों की अवस्था में यही (विषमता) सृष्टि की अवस्था है।

(१७) सत्त्व, रजस् तमस् गुण क्यों कहे जाते हैं

सत्त्व, रजस्, तमस स्वयं द्रव्य हैं, न कि किसी अन्य द्रव्य के गुण, जैसे कि रूपादि हैं। फिर इनको गुण क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है, कि पुरुष भोक्ता है, और गुण उसका भोग्य है। भोक्ता भोग्य के प्रति प्रधान होता है, और भोग्य भोक्ता के प्रतिगुण

(गौण)। इस गुणप्रधान भाव को लेकर इनको गुण कहा है। अथवा गुण रस्सी को कहते हैं; यह गुण पुरुष के लिये एक फांस हैं, इस लिये इनको गुण कहा है।

(१८) गुण कभी संयुक्त वियुक्त नहीं होते।

सत्त्व, रजस्, तमस्, एक दूसरे के सहचारी हैं। सत्त्व, रजस् तमस् के बिना; रजस्, सत्त्व तमस् के बिना, और तमस् सत्त्व रजस् के बिना नहीं होता। न इनका कोई आदि संयोग है, और न कभी वियोग होगा। सर्वत्र तीनों विद्यमान हैं। हां गुणप्रधानभाव इनमें होता रहता है।

(२०) पुरुष इन गुणोंसे भिन्न इनका भोक्ता है।

पुरुष बोध स्वरूप है, अतएव द्रष्टा है। यह गुण दृश्य हैं, वह इनका द्रष्टा है, यह भोग्य हैं, वह भोक्ता है। गुण परस्पर संहत हैं, वह केवल है, गुणों में परिणाम होता है,वह एकरस रहता है,अतएव वह साक्षिवत् द्रष्टा है, देखते हुए भी उसमें कोई परिणाम नहीं होता।

(२१) पुरुष की सिद्धि में प्रमाण।

प्रकृति और उसका कार्य सारा जड़ है, उस में बोध नहीं होसक्ता, इसलिये बोद्धा पुरुष इन से भिन्न है। किञ्च जो नाम संघात है, वह किसी दूसरे के अर्थ होता है जैसे शय्या आसन आदि हैं। इसी प्रकार महत् अहङ्कार आदि सब संघात हैं, इसलिए इनसे भिन्न अवश्य कोई दूसरा असंहत होना चाहिए, जिसके लिये यह संहत हुए हैं, वही पुरुष है।

(२२) पुरुष नाना हैं

यदि सारे देहों में एकही आत्मा हो, तो उसमें जब शरीर को चलाने का प्रयत्न हो, तो सारे ही चल पड़ें। वह जब किसी एक देह में नेत्र से कोई वस्तु देखे, तो सारे शरीरों में उसका ज्ञान होजाए,क्योंकि आत्मा सर्वत्र एक

है। एक के सुखी होने से सारे सुखी और दुःखी होने से सारे दुःखी हों। पर नाना पुरुष मानने में यह दोष नहीं आता है इसलिये नाना है।

इस विश्व में दो बड़ी शक्तियों का प्रकाश है, एक क्रियाशक्ति और दूसरी चैतन्यशक्ति। इन दोनों में से क्रियाशक्ति प्रकृति में है, और चैतन्यशक्ति पुरुष में। इन दोनों शक्तियों को एक दूसरे की अपेक्षा होने से प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध हुआ है। जैसे किसी बाग में लूला और अन्धा हों। वह यदि दोनों अलग २ रहें, तो दोनों वहां निरर्थक पड़े रहेंगे, क्योंकि लूले को फलों तक पहुंच नहीं, और अन्धा देख नहीं सक्ता। पर यदि अन्धा लूले को अपने कन्धे पर उठाकर लूले के निर्दिष्ट मार्ग पर उसको लेचले, तो दोनों फलों के भागी होंगे। इसीप्रकार प्रकृति अन्धी है, और पुरुष लूला है। इन दोनों का संयोग सृष्टि का हेतु है। सो कहा है-"पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः"=लूले और अन्धे की नाईं दोनों का संयोग है, और उससे कीहुई सृष्टि है (सां० कां० २१)

(२३) प्रकृतिपुरुष का संयोग और संयोग का फल

प्रकृति में क्षोभ होकर जो पहले पहल तत्त्व उत्पन्न होता है, उसका नाम महततत्त्व है। यह तत्त्व हमारे देह में बुद्धिरूप से स्थित है, इसका काम है निश्चय करना। धर्म्मज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य इसके सात्त्विकरूप हैं, अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य्य तामस हैं। जैसा कि कहा है-अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्"= बुद्धि निश्चयरूप है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्य उसके सात्त्विक

(२४) प्रकृति का कार्य्य महत्

रूप हैं, इससे उलटे (रूप) तामस है।

फिर महत् में परिणाम होकर जो नया तत्त्व होता है वह अहङ्कार है। हमारे देह में उसका काम "अभिमान" है अर्थात् "मैं हूं" "यह मेरा है" यह भाव अहङ्कार का कार्य है।

(२५) महत् का कार्य अहंकार

अहङ्कार में परिणाम होकर जो नए तत्त्व होते हैं, वह पञ्चतन्मात्र और एकादश इन्द्रिय हैं। इन्द्रिय सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं और तन्मात्र तामस से।

(२६) अहंकार का कार्य पञ्चतन्मात्र और इन्द्रिय

पञ्चतन्मात्राओं में परिणाम होकर जो नए तत्त्व होते हैं, वह पंचमहाभूत हैं। इनमें शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूप तन्मात्रा से तेज, रसतन्मात्रा से जल, और गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है। पृथिवी की उत्पत्ति में गन्धतन्मात्रा प्रधान है पर दूसरे तन्मात्र भी उसके साथ मिले हुए हैं। इसीप्रकार दूसरे महाभूतों की उत्पत्ति में जानो।

(२७) पञ्चतन्मात्र का कार्य पञ्चमहाभूत

पांच कर्म्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन यह ग्यारह इन्द्रिय और इनके साथ बुद्धि और अहङ्कार यह तेरह आत्मा के पास करण (साधन) हैं। इनमें से मन, बुद्धि और अहङ्कार यह तीन अन्तःकरण हैं, और शेष बाह्यकरण।

(२८) त्रयोदशकरण

बाह्यकरण अपने २ विषय को बाहर से अंदर पहुंचाते हैं और अंदर स्थित बुद्धि मन और अहङ्कार के साथ मिलकर उनका निश्चय करती है, इसलिए बाह्यकारण द्वार हैं, और अन्तःकरण द्वारि

(२९) करणोंमें बुद्धि प्रधान है

अन्तःकरण में भी बुद्धि प्रधान है। क्योंकि बाह्यइन्द्रिय विषय का आलोचन करके मन को समर्पण कर देते हैं, मन संकल्प करके अहङ्कार को, अहङ्कार अभिमत करके बुद्धि को, बुद्धि उसको पुरुष के सामने रखती है, इसलिये बुद्धि प्रधान है। बुद्धि ही शब्दादि विषयों को आत्मा के सामने रखती है, और अन्त में बुद्धि ही प्रकृति पुरुष का विवेक कराती है। सो पुरुष के भोग और अपवर्ग का साक्षात् साधन होने से बुद्धि पुरुष का प्रधान मन्त्री है।

(२०) सूक्ष्मशरीर

बुद्धि अहङ्कार एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र इनका समुदाय सूक्ष्मशरीर है। इसी को लिङ्गशरीर कहते हैं। कर्म और ज्ञान इसी के सहारे पर हैं, और भोग भी इसी के आश्रय हैं। स्थूलशरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता, अपितु शरीर के नाश होने पर यह कर्म और ज्ञान की वासनाओं से वासित हुआ इस शरीर से निकलता है, और उन्हीं वासनाओं के अनुसार नए जन्म का आरम्भक होता है। मानों यह नट की तरह अपने रूप बदलता रहता है। सूक्ष्मशरीर प्रलय पर्य्यन्त स्थायी है, प्रलयावस्था में प्रकृति में लीन होजाता है। फिर सृष्टिकाल में नया उत्पन्न होता है।

(२१) जड़ चेतन की ग्रन्थि

बुद्धि जड़ है और पुरुष चेतन है, पर पुरुष बुद्धि से परे अपने आपको नहीं देखता, अपितु बुद्धि को ही अपना आप समझता हुआ बुद्धि के शान्त होने से शान्त, घोर होने से घोर, और मूढ होने से मूढ़ होता है। जैसा कि पंचशिखाचार्य्य का सूत्र है— "बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्य्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन" =बुद्धि से परे पुरुष को,

स्वरूप (सदा शुद्ध होना) स्वभाव (उदासीनता) और चेतनता आदि द्वारा बुद्धि से अलग न देखता हुआ (अर्थात् पुरुष शुद्ध, उदासीन और चेतन है, और बुद्धि अशुद्ध अनुदासीन और जड़ है यह भेद न देखता हुआ) उस (बुद्धि) में आत्मबुद्धि कर लेता है। इसी को **चिदचिद्ग्रन्थि** वा जड़ चेतन की गांठ कहते हैं। यही संसार का वा दुःख का मूल है।

(३२) इस ग्रन्थि का खोलना दुःख का पूरा इलाज है

बुद्धि पुरुष का अविवेक ही दुःख का हेतु है, और विवेक ही उसका पूरा इलाज है। जब पुरुष बुद्धि से अपने आपको अलग करके देख लेता है, तो दुःख का हेतु मिट जाता है, जैसा कि **पंचशिखाचार्य्य** का सूत्र है—"**तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः**" बुद्धि का संयोग जो दुःख का हेतु है, उसके छोड़ने से दुःख का आत्यन्तिक प्रतीकार (पूरा इलाज) होजाता है। अर्थात् जब पुरुष बुद्धि से अपने आपको पृथक् देख लेता है, तो बुद्धि में उसकी आत्मभावना निवृत्त होजाने से बुद्धिगत सन्ताप से सन्तप्त नहीं होता। इसप्रकार बुद्धि से निखर जाना ही कैवल्य है।

(३३) तत्त्व साक्षात्कार का फल।

इस प्रकार जब पुरुष सारे तत्त्वों को साक्षात् कर लेता है, तो वह माया की फांसों से सर्वथा छूट जाता है, और वह इस प्रकृति को एक तमाशा देखने वाले की नाईं आराम में बैठा हुआ देखता है—"**प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः**" तब प्रेक्षक की नाईं चैन से बैठा हुआ पुरुष प्रकृति को देखता है। यही **जीवन्मुक्त** है। यही जिज्ञासुओं का **गुरु** है, जिसका उप-

देश बन्धन से छुड़ा देता है। इस जीवन्मुक्त के लिये प्रकृति अपना काम बन्द कर देती है। यद्यपि बद्ध पुरुषों की नाई प्रकृति का सम्बन्ध उसके साथ भी है, पर वह प्रकृति के उपभोगों से ऊपर होगया है, उसके लिये प्रकृति की रचना का कोई प्रयोजन नहीं, **"दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या। सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य"**='मैंने देखली है' इसलिये पुरुष प्रकृति से वेपरवाह होजाता है, "और मैं देखी गई हूं" इसलिये प्रकृति कामबन्द कर देती है। अतएव अब इन दोनों का संयोग होते हुए भी सृष्टि का प्रयोजन नहीं रहा है (सां० का० ६६)

(३४) तत्त्वज्ञान के पीछे शरीर की अवस्थिति।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः (सां०का०६७) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से धर्मादि अकारण बन जाते हैं (अर्थात् कर्म का बीज दग्ध होजाता है) तथापि संस्कार के वश से ज्ञानी का शरीर बना रहता है। जैसे कुम्हार से चलाया हुआ चाक अपने आप घूमता है।

(३५) विदेह मोक्ष।

प्राप्तेशरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिक मुभयं कैवल्यमाप्नोति (६८) (उस संस्कार के समाप्त होने पर) जब शरीर गिर जाता है, तो अब प्रकृति चरितार्थ होजाने से निवृत्त होजाती है (अर्थात् उसके लिये नया शरीर नहीं बनाती) तब वह अवश्यंभावी और अविनाशी कैवल्य को प्राप्त होता है।

(छटा-योगदर्शन)।

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक।

इस दर्शन के प्रवर्तक **पतञ्जलि मुनि** हैं, उनके नाम पर इस दर्शन को **पातञ्जलदर्शन** कहते हैं, और इसमें योग का वर्णन होने से **योगदर्शन** कहते हैं।

(२) इस दर्शन का उद्देश्य।

इस दर्शन का परम उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के साक्षात् दर्शन कराना है, पर इस दर्शन में प्रवृत्त हुआ पुरुष अपने परम उद्देश्य पर पहुंचने से पहले ही इतना शक्तिमान् होजाता है, कि उसको अध्यात्म और वाह्य सारी शक्तियों का साक्षात् होजाता है, और विविध सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

(३) द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप।

पुरुष **द्रष्टा** है, और यह वाहर और भीतर प्रकृति का जितना कार्य है, वह सब **दृश्य** है।

(४) साक्षात् दृश्य केवल चित्त है।

पर द्रष्टा का साक्षात् दृश्य केवल चित्तही है, क्योंकि वाहर का दृश्य वाहर होता है, वह अन्दर वैठे हुए द्रष्टा का साक्षात् दृश्य हो नहीं सक्ता, क्योंकि उससे द्रष्टा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। सो वाहर के दृश्य इन्द्रियों द्वारा द्रष्टा के दृश्य बनते हैं। जैसे रूप वाले पदार्थ का प्रतिविम्ब हमारे नेत्र की पुतली पर पड़ता है, उससे सूक्ष्म नाड़ियों में क्रिया होती है, और वह आकार मस्तिष्क (दिमाग) द्वारा चित्त पर पहुंचता है, अव चित्त उस पहले आकार से नए आकार (उस वस्तु के आकार) में आजाता है। अव यह दृश्य द्रष्टा के सामने है, वह इसको देख लेता है।

(५) चित्त और उसकी वृत्तियां।

चित्त त्रिगुणात्मक है, पर सत्त्वप्रधान है, इसलिये प्रकाशक है। जब कोई बाहर का दृश्य आकर इस पर पड़ता है, तो यह तदाकार होजाता है, अर्थात् अपने आकार को उसके आकार में बदल लेता है, इसी आकार को **वृत्ति** (ख्याल) कहते हैं। जब दूसरा दृश्य आता है, तो दूसरी वृत्ति बदलजाती है। जब बाहर का दृश्य नहीं भी आता, तो भी पूर्व संस्कारों के वश से ही वृत्तियां बदलती रहती हैं। यह वृत्तियां जितनी उत्पन्न होती रहती हैं, सब आत्मा के सामने होती हैं, इसलिये इनमें से कोई भी वृत्ति अज्ञात नहीं रहती, आत्मा सब को अनुभव करता रहता है। इस अनुभव को **बोध** वा **दृष्टि** कहते हैं, और आत्मा **बोद्धा** वा **द्रष्टा** कहलाता है।

(६) वृत्तियों के पांच भेद।

चित्त की वृत्तियां क्षण २ में नई २ बदलती रहती हैं, जागते भी और सोते भी। उनकी एकदिन की गिनती का भी कुछ ठिकाना नहीं। तथापि वह सारी इन पांच भेदों में आजाती हैं—**प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा** और **स्मृति**। जिस वृत्ति से यथार्थ बोध हो, उसको **प्रमाण** कहते हैं, वह तीन प्रकार का है—**प्रत्यक्ष, अनुमान** और **आगम**। १। और जिस से अयथार्थ बोध हो, वह **विपर्यय** अर्थात् भ्रान्ति, मिथ्याज्ञान, अविद्या है। २। और जो कहने की चाल में ठीक हो और वस्तु से शून्य हो उस वृत्ति को **विकल्प** कहते हैं, जैसे "पानी से हाथ जलगया" यह वृत्ति वस्तु से शून्य इसलिये है, कि हाथ पानी से नहीं जला, किन्तु पानी में जो अग्नि है उससे जला है, पर कहने की चाल ऐसी ही है, समझ बूझ वाले भी ऐसाही कहते हैं

इसलिये यह अज्ञान भी नहीं।३। **निद्रावृत्ति** वह है, जब मनुष्य गाढ़ सोजाता है, जिससे उठकर कहता है, कि ऐसा बेसुध सोया, मुझे कोई सुध नहीं रही। यह निद्रा भी चित्त की एक वृत्ति है, अतएव जागने पर इसका स्मरण होता है ॥४॥ इन वृत्तियों के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन संस्कारों से जो फिर वृत्ति उत्पन्न होती है, वह **स्मृति** है। स्मृति के संस्कारों से भी फिर स्मृति होती है।

(७) चित्त की पांच अवस्थाएं

चित्त की पांच अवस्थाएं होती हैं, **क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र** और **निरुद्ध**। जब चित्त अत्यन्त अस्थिर होता है वह **क्षिप्तावस्था** है। जब ज्ञान की ओर झुकता ही नहीं, वह **मूढावस्था** है। जब कुछ थोड़ा सा टिकता भी है, पर जल्दी घबराकर विचल जाता है, वह **विक्षिप्तावस्था** है। जब एकही अर्थ में पूरा टिक जाता है, उसी अर्थ में ध्यान की एकतान बन्ध जाती है वह **एकाग्रतावस्था** है। इससे आगे भी एक और अवस्था है, वह यह है, कि चित्त को यहांतक रोक दिया जाए, कि उसमें कोई भी वृत्ति उदय न हो। न कोई नई वृत्ति, न कोई पिछला स्मरण और न ही नीन्द हो वह **निरुद्धावस्था** है।

(८) इनमें से चौथी और पांचवीं अवस्थाएं योग की हैं

इनमें से पहली अवस्था व्यवहारियों की, दूसरी नीचों की, तीसरी जिज्ञासुओं की, और चौथी और पांचवीं योग की अवस्था हैं। चौथी का नाम **सम्प्रज्ञातयोग** और पांचवीं का नाम **असम्प्रज्ञातयोग** है। चौथी अवस्था में चित्त जहां टिकता है, उसको ठीक

ठीक जान लेता है, इसीलिये उसको सम्प्रज्ञात कहते हैं । पांचवीं में चित्त बिल्कुल रुकजाता है, उसमें कोई वृत्ति बनती ही नहीं । इसीलिये उसको असम्प्रज्ञात कहते हैं । यही मुख्य योग है । अतएव कहा है " योगश्चित्तवृत्ति निरोधः " योग, चित्त की वृत्तियों का निरोध है ।

(९) निरोधावस्था में द्रष्टा की स्थिति

जब तक चित्त में कोई वृत्ति है, तब तक द्रष्टा उस वृत्ति को देखता है । पर जब निरुद्धावस्था में उसमें कोई वृत्ति नहीं होती—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (१।३)=तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है । अर्थात् अन्य दृश्य के नहोने से अपनेआप में स्थित हुआ आत्मदर्शी होता है ।

(१०) निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य

अभ्यासवैराग्यां तन्निरोधः(१।१२) अभ्यास और वैराग्य से उन (वृत्तियों) का निरोध होता है । चित्त को ठहराने का बार२ यत्न करना अभ्यास है । लोक परलोक की कामनाओं से रहित होना वैराग्य है । निःसन्देह चित्त स्वतः चञ्चल है, पर ज्यों २ उसको टिकाने का अभ्यास किया जाता है, त्यों २ टिकना सीख जाता है । उसको न टिकने देनेवाली कामनाएं होती हैं, यह चित्त को डुलाए रखती हैं, जब इनको छोड़ दिया, तो चित्त टिकजाता है । इसप्रकार अभ्यास और वैराग्य से चित्त पहले एकाग्र होता है फिर इन्हीं उपायों से निरुद्ध होता है । अभ्यास और वैराग्य जितना प्रबल होता है, उतनी ही जल्दी योग सिद्ध होता है ।

ओ३म् का जप और परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना

(११) ईश्वरप्रणिधान

ईश्वरप्रणिधान है । इस भक्तिविशेष से परमात्मा स्वयं प्रेरित होकर साधक के चित्त को स्थिर कर देते हैं

(१२) ईश्वर प्रणिधान से योग के विघ्नभी दूर होजाते हैं ।

किसी भले काम में पहले प्रवृत्ति के रोकने वाले और फिर सिद्धि के रोकने वाले कई विघ्न खड़े होजाते हैं 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' सो योग में नौ विघ्न हैं जो चित्त को विक्षिप्त करनेवाले हैं "**व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमादा-ऽऽलस्या-ऽविरति-भ्रान्तिदर्शना-ऽलब्धभूमिकत्वा-ऽनवस्थितत्त्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः**" (१ । ३०)=व्याधि=रोग । स्त्यान= अयोग्यता । संशय=मैं योग कर सकूंगा वा नहीं, और करने पर भी सफलता होगी वा नहीं; यह संशय बने रहना । प्रमाद=बेपरवाही से योग वा उसके अंगोंका न करना। आलस्य=आलस्य बना रहना । अविरति=विषयों में तृष्णा बनी रहनी । भ्रान्तिदर्शन=मिथ्या ज्ञान होना । अलब्धभूमिकत्व=समाधि की भूमिका (अवस्था) का न पाना। अनवस्थितत्व=समाधि की भूमि को पाकर भी चित्त का उस में न ठहरना । यह चित्त के विक्षेप वा योग के विघ्न हैं। ईश्वर प्रणिधान से यह सब दूर होजाते हैं ।

(१३) चित्तको निर्मल बनानेवाले उपाय।

जबतक चित्त में ईर्ष्या असूया आदि बने रहते हैं, तबतक वह टिकता नहीं। चित्त से इन मलों के धोने का उपाय यह है, कि '**मैत्रीकरुणामुदितो-पेक्षाणांसुखदुःखपुण्यापुण्यविषया-णां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**(१ । ३३) सुखियों में मैत्री की

भावनासे, दुःखियों में दया की भावना से, पुण्यात्माओं में प्रसन्नता की भावना से, और पापियोंमें उदासीनताकी भावना से चित्त निर्मल होताहै।

जिसका चित्त शुद्ध है, उसके लिये अभ्यास और वैराग्य उपाय हैं। पर जिसने अभी चित्तको शुद्ध करना है, उसके लिये साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है, उनमें से पहले चित्त की शुद्धि का एक बड़ा उपयोगी और आसान उपाय क्रियायोग है।

(१४) क्रियायोग।

"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिं क्रियायोगः" तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है। अर्थात् सहनशील होना (शीत, उष्ण, सुख दुःख आदि जो द्वन्द्व हैं उनका सहारना) और हित, परिमित और शुद्ध अन्न (नेक कमाई से कमाया हुआ और सात्विक भावों को उत्पन्न करने वाला) का खाना इत्यादि तप है। धर्म और अध्यात्म विद्या के सिखलाने वाले शास्त्रों का अभ्यास, और ओंकार तथा गायत्री आदि का जप स्वाध्याय है। सारे कर्मों को ईश्वर के समर्पण करना और उनके फल का त्याग ईश्वरप्रणिधान है।

(१५) क्रियायोग का फल।

यह क्रियायोग "समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च"=समाधि की उत्पत्ति के लिये और क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिये है। अर्थात् क्रियायोग चित्त की शुद्धि द्वारा घने क्लेशों को विरला बनाता है, जो क्लेश पहले सदा बने रहते थे, अब वह कभी २ उत्पन्न होते हैं, यही समाधि को अवसर मिलजाता है।

(१६) पांच क्लेश।

क्रियायोग जिन क्लेशों को सूक्ष्म करता है, वह यह हैं "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः"=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और

अभिनिवेश यह पांच क्लेश है। इन में से अविद्या ही मुख्य क्लेश है, अस्मिता आदि अविद्या से ही उत्पन्न होते हैं।

(१७) अविद्या का स्वरूप।

"अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"=अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्म में; नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा का ज्ञान अविद्या है। अनित्य स्वर्गादि को नित्य समझना, मन के अन्दर अपवित्र भावों के होते हुए भी अपने आपको पवित्र समझना, जिनका परिणाम दुःख है, उन विषयों को सुख समझना, शरीर, इन्द्रिय और चित्त जोकि अनात्मवस्तु हैं, उनको आत्मा समझना अविद्या है।

(१८) अस्मिता का स्वरूप।

"दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" दृक् शक्ति (आत्मा) और दर्शन शक्ति (बुद्धि) इन दोनों का एक स्वरूप सा होना, इन में भेद प्रतीत न होना अस्मिता क्लेश है। अर्थात् पहले अविद्या से जब बुद्धि को आत्मा (अपना आप) समझ लेता है, तो फिर बुद्धि की सारी अवस्थाओं को अपने में आरोप कर लेता है, अर्थात् बुद्धि के शान्त होने से अपने आपको शान्त, घोर होने से घोर, और मूढ होने से मूढ समझता है, यही अस्मिता है।

(१९) रागका स्वरूप।

"सुखानुशयीरागः"=सुख के साथ लेटने वाला राग है। जिस वस्तु से सुख उठाया है, उस सुख के साथ ही उसमें राग होजाता है, जिस से फिर उसकी तृष्णा बनी रहती है।

(२०) द्वेष का स्वरूप।

"दुःखानुशयीद्वेषः" दुःख के साथ लेटने वाला द्वेष है। जब किसी से दुःख मिलता है, तो उसके साथ ही उसमें द्वेष उत्पन्न होजाता है।

"स्वरसवाही विदुषो ऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः"

(२१) अभिनिवेश का स्वरूप।

(मरने का भय) जो स्वभावतः (हरएक प्राणी में) वह रहा है और विद्वान् के लिये भी वैसा ही प्रसिद्ध है (जैसा एक महामूढ़ के लिये है) वह अभिनिवेश है॥ वह चूहा जिसने कभी बिल्ली को चूहा मारते नहीं देखा, वह भी बिल्ली को देखकर भागजाता है, इससे प्रतीत होता है, कि मरने का भय देख २ कर नहीं बैठता, किन्तु स्वभावतः प्राणीमात्र में बहरहा है, चाहे मूर्ख हो वा विद्वान् कोई भी अपनी हस्ती को मेटना नहीं चाहता, हरएक को अपनी हस्ती में बड़ा लगाव है, यही लगाव अभिनिवेश है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि। २। २९। यम,

(२२) योग के आठ अङ्ग और उनके अनुष्ठान का फल।

नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि यह आठ अङ्ग हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। २। २८। इन योग के अङ्गों के अनुष्ठान से मैल का नाश होकर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति (प्रकृति पुरुष को अलग २ करके जानने) पर्य्यन्त बढ़ता जाता है।

इन आठ अङ्गों में से "अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्य्या परिग्रहा यमाः"=अहिंसा (वैर और द्रोह से रहित होना) सत्य, अस्तेय, (चोरी का त्याग) ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह (ममता का त्याग) यह पांच यम हैं।

(२३) पांच नियम।

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। २। ३२=शौच (बाहर अन्दर की शुद्धि) सन्तोष, तप, (द्वन्द्व सहन) स्वाध्याय

(२४) पांच नियम।

और ईश्वरप्रणिधान (सारे कर्मों को ईश्वरार्पण करना) यह पांच नियम हैं।

(२५) यम नियमों के अनुष्ठान का फल

जो अहिंसा में दृढ़ स्थित है, उसके सामने वैरी भी वैर छोड़देते हैं, जो सत्य में स्थित है, उसका कहा हुआ पूरा होता है, जो अस्तेय में स्थित है, उसको सारे रत्न मिलते हैं, जो ब्रह्मचर्य में स्थित है, उसको वीर्य का लाभ होता है, जो अपरिग्रह में स्थित है, उसको अपने जन्म का तत्त्व ज्ञात होजाता है। शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों की जीत और आत्म-दर्शन की योग्यता होती है। सन्तोष से उत्तम सुख मिलता है, तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर स्वस्थ, नीरोग, लघु और दक्ष (फुर्तीला) होता है, और इन्द्रियों में दूर देखने आदि की शक्ति होजाती है। स्वाध्याय से इष्टदेवता का साक्षात् होता है, और ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

(२६) आसन और उसका फल।

बैठने की चाल का नाम **आसन** है, वह कई प्रकार का है पर जिस तरह देर तक आसानी से बैठा रह सके, वही अधिक उपयोगी है। आसन के जीतनेसेभूख प्यास सर्दी आदि द्वन्द्व नहीं सताते*

(२७) प्राणायाम और उसके भेद।

सांस की गति का रोकना, **प्राणायाम** है, उसके तीन भेद हैं, **रेचक, पूरक और कुंभक।** सांस को बाहर निकालना रेचक है, अन्दर खींचना पूरक है। और रोकना कुम्भक। कुम्भक के दो

* आसन, यमनियमोंकी नाई स्वतन्त्र अङ्ग नहीं, किन्तु प्राणायाम करने का उपाय है, इसलिये प्राणायाम से पूर्व ही इसकी आवश्यकता है, सर्वदा नहीं।

भेद हैं सहित कुंभक और केवल कुंभक। रेचक और पूरक के साथ जो कुम्भक किया जाता है (अर्थात् पहले वायु को बाहर निकालना वा अन्दर भरना और फिर रोकना) वह सहित कुम्भक है। फिर जब अभ्यास वश से इतनी शक्ति बढ़जाती है कि रेचक और पूरक के बिना ही प्राण थम जाते हैं, तो केवल कुम्भक होता है।

(२८) प्राणायाम का फल।

प्राणायाम से मल धोए जाते हैं और ज्ञान चमकता है, और मन धारणा के योग्य बन जाता है।

(२९) प्रत्याहार और उसका फल।

प्रणायाम से जब मन बाहर की ओर से हट जाता है, तो उसके साथ ही इन्द्रियों का बाह्य विषयों से सम्बन्ध त्यागकर चित्त की नाईं थम जाना प्रत्याहार है। प्रत्याहार से इन्द्रिय पूरे वश में होजाते हैं।

(३०) धारणा ध्यान और समाधि।

चित्तको किसी एक स्थान पर टिकाना धारणा है, टिकाने के स्थान शरीर के अन्दर नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्द्धा आदि हैं। और बाहर कोई भी विषय होसक्ता है। अब जिस प्रदेश में चित्त को टिकाया है, उसी प्रदेश में उसकी वृत्ति का एकाग्र होजाना, अर्थात् एकही प्रकार की वृत्ति का लगातार उदय होते चले जाना, उसके अन्दर और किसी प्रकार की वृत्ति का उदय न होना ध्यान है, अब जब वह ध्यान ऐसा जमजाता है, कि उसमें केवल ध्येयमात्र ही भासता है, ध्यान का अपना स्वरूप भी गुम सा होजाता है, तो उसे समाधि कहते हैं।

(३१) योग के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अङ्ग।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार यह पांच योग के बहिरङ्ग अङ्ग हैं। धारणा, ध्यान, और समाधि यह तीनों अन्तरङ्ग हैं।

धारणा, ध्यान और समाधि जब तीनों एक विषय में होते हैं, अर्थात् जिस विषय में धारण हुई हो, उसी में ध्यान और उसी में चित्त की समाधि हो, तो योगशास्त्र में उसे **संयम** कहते हैं।

(३२) संयम।

भिन्न २ विषयों में संयम का फल भिन्न २ सिद्धियां हैं। जो योगशास्त्र के विभूतिपाद में कही हैं।

(३३) संयम का फल

समाधि के दो भेद हैं, **सबीज** और **निबीर्ज**।

(३४) समाधिके दो भेद

चित्त का और सब ओर से हटकर एकही लक्ष्य में टिकजाना, तन्मय होजाना, उसी में लीन होजाना, **समापत्ति** कहलाती है। इसके दो भेद हैं। **वितर्कसमापत्ति** और **विचारसमापत्ति**। जब लक्ष्य स्थूल हो, तो **वितर्क समापत्ति** होती है, उसके दो भेद हैं, **सवितर्का** और **निवतर्का**। हमें वस्तुओं के नाम का इतना अभ्यास होगया है, कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उसका नाम भी साथ ही भासता है। और उस वस्तु का ज्ञान भी अलग भासता है। इसी प्रकार समाधि में भी लक्ष्य वस्तु के साथ उसका नाम और ज्ञान भी भासते हैं। सो जब तक यह भी साथ २ भासते रहते हैं, तब तक **सवितर्का समापत्ति** है, पर जब चित्त उस लक्ष्य में ऐसा मग्न होजाता है, कि वह लक्ष्य ही उसके सामने रह जाता है, उस वस्तु का नामभी भूल जाता है और ज्ञान भी अलग नहीं भासता है, तो वह **निर्वितर्का समापत्ति** है। इस समापत्ति में जैसा वस्तु का साक्षात् होता है, ऐसा

(३५) सबीज समाधि और उसके चार भेद।

स्पष्ट साक्षात् और किसी तरह नहीं होता। जिस प्रकार स्थूल में सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति है, इसी प्रकार सूक्ष्म में **सविचारा** और **निर्विचारा** समापत्ति होती है। जब तक सूक्ष्म विषय अपने देश, काल और निमित्तके साथ तथा नाम और ज्ञान के साथ प्रतीत होता है, तब तक **सविचारा समापत्ति** होती है, फिर जब अर्थ को साक्षात् करते २ देश, काल, निमित्त और शब्द सब भूलजाते हैं, केवल अर्थ मात्रही प्रतीति होताहै, तब वह **निर्विचारा** है। यह सूक्ष्म विषय पञ्च तन्मात्राओं से लेकर प्रकृतिपर्यन्त है। स्थूल भूत और भौतिक वस्तुओं का साक्षात् वितर्क समापत्ति से होता है, और पञ्च तन्मात्र से लेकर प्रकृतिपर्यन्त का साक्षात् विचार समापत्ति से होता है। इन चारों को **सबीजसमाधि** वा **संप्रज्ञातयोग** कहते हैं।

(२६) निर्विचार समापत्ति का महत्त्व।

निर्विचार समाधि ज्यों २ बढ़ती है, त्यों २ उसकी प्रज्ञा निर्मल होती जाती है, प्रज्ञा के पूरा निर्मल होने पर सारे पदार्थ उसको शीशे की तरह एक दम साफ दिखलाई देते हैं, इस अवस्था में :—

प्राज्ञ प्रसाद मारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

प्रज्ञा की निर्मल चोटी पर चढ़कर शोक की पहुंच से ऊंचा बैठा हुआ वह प्राज्ञ पुरुष शोक में डूबे हुए सारे लोगों को इस तरह देखता है, जैसे कोई पर्वत पर बैठा हुआ भूमि पर स्थित लोगों को देखे। इस अवस्था में जो प्रज्ञा होती है उसका नाम **ऋतम्भरा प्रज्ञा** है क्योंकि वह सचाई को धारण करती है, इसमें धोके का कभी नाम नहीं होता। इसी को **अध्यात्म प्रसाद**, **स्फुटप्रज्ञालोक** वा **प्रज्ञाप्रसाद** कहते हैं। अनुमान से वा शास्त्र से भी हम प्रकृति पर्यन्त को जानते हैं, पर समाधि में उनका साक्षात् प्रत्यक्ष होता है।

समाधि से पहले चित्त पर बाहर के संस्कार होते हैं, इसलिये समाधि में पहुंच कर भी चित्त उन संस्कारों के वश से जल्दी बाहर की ओर भागता है।

(२७) इसके संस्कारों का फल।

अब जब यह निर्विचार समाधि होजाती है, तो उसमें जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसके संस्कार उन बाहर के संस्कारों से बलवान् होते हैं, क्योंकि इसमें वस्तु का तत्त्व अनुभव होता है, जो बाहर की प्रज्ञा में नहीं होता। सो यह प्रबल संस्कार फिर समाधि में ही लगाते हैं, और उससे फिर वैसे ही संस्कार उत्पन्न होते हैं, वह फिर समाधि में लगाते हैं, इस प्रकार समाधि के संस्कार बाहर के संस्कारों को ऐसा दबा लेते हैं, कि एक पहुंचा हुआ योगी उठता बैठता घूमता फिरता सदा उसी में मग्न रहता है।

निर्विचार समाधि से जब आत्मा सारे सूक्ष्म दृश्यों को देख लेता है, और यह देख लेता है, कि मैं यह दृश्य नहीं हूं, किन्तु इनसे परे इनका द्रष्टा हूं। तब उसको इन दृश्यों से परे पहुंचने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसकी इस प्रबल इच्छा से चित्त पर का दृश्य मिटजाता है, तब आत्मा उस दृश्य से हटकर अपने स्वरूपमें आजाता है। यही निरुद्धावस्था है। इसी को **निर्बीज़समाधि** वा **असम्प्रज्ञातयोग** कहते हैं।

(२८) निर्बीजसमाधि।

अब इस समाधि की प्राप्ति में योग का उद्देश्य पूरा प्राप्त होजाता है, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होजाता है, पहले प्रकृति के बन्धनों में था, अब उन से छूट गया है, यही **मुक्ति** है। पहले वह प्रकृति के साथ एक होरहा था, अब उससे अलग होकर केवल स्वरूप हुआ है, इसी को **कैवल्य** कहते हैं।

(२९) मुक्ति वा कैवल्य।

—:-०-:—

आठवां—मीमांसादर्शन ।

वेदार्थ विषयक विचार को **मीमांसा** कहते हैं, मीमांसा के दो भेद हैं-**पूर्व-मीमांसा** और **उत्तर-मीमांसा** पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड का विचार है, और उत्तर मीमांसा में उपासना और ज्ञानकाण्ड का। पूर्व मीमांसा का प्रसिद्ध नाम **मीमांसादर्शन** है, और उत्तर मीमांसा का **वेदान्तदर्शन** ।

(१) पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

मीमांसा दर्शन का प्रवर्तक **जैमिनिमुनि** है, उसी के नाम पर इसको **जैमिनीयदर्शन** कहते हैं, और वेदार्थ का विचार होने से **मीमांसादर्शन** ।

(२) मीमांसादर्शन का प्रवर्तक।

"**स्वध्यायोऽध्येतव्यः**"(शत० ११।५।७) स्वाध्याय पढ़ना चाहिये। यह विधि वेदाध्ययन की आज्ञा देती है, विधि का उल्लङ्घना अधर्म है। इसलिये द्विजमात्र को वेद का पढ़ना आवश्यक है, अन्यथा वह पतित होता है।

(३) वेदाध्ययन का विधान।

मनुष्य के अन्दर जो धर्म की जिज्ञासा है, वह वेद के अध्ययन से ही पूरी होसक्ती है, अन्यथा नहीं, क्योंकि धर्म के विषय में केवल वेद ही एक प्रमाण है।

(४)धर्म की जिज्ञासा वेदाध्यान से ही पूर्ण होती है।

यज्ञादि कर्म, और सब के साथ द्रोहरहित होना आदि चरित ही धर्म है।

(५) धर्म क्या है।

चरित का अधिकार मनुष्यमात्र को है, वेदोक्त हरएक चरित

(६) धर्म का अधिकारी। हरएक मनुष्य के लिए अनुष्ठेय है, पर कर्म का अधिकार योग्यता के अनुसार होता है। जैसाकि राजसूययज्ञ का अधिकारी राजा ही होसक्ता है, अन्य नहीं।

"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामोयजेत"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष ज्योतिष्टोम से यज्ञ करे, इस विषय

(७) धर्म में प्रमाण। में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान को ही विषय करता है, सो ज्योतिष्टोम यद्यपि क्रियारूप से वर्तमान है, पर स्वर्ग की साधनता के रूप से वर्तमान नहीं, जिसरूप से कि वह धर्म है, अतएव धर्म में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं। और जब ज्योतिष्टोम में स्वर्ग की साधनता प्रत्यक्ष का अत्यन्त अविषय है, तो उसमें अनुमानादि की प्रवृत्ति की कथा ही क्या है, क्योंकि सम्बन्ध-ज्ञानपूर्वक ही अनुमानादि की प्रवृत्ति होती है। इसलिये धर्म वेद से ही जाना जाता है। इसी प्रकार "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूय-चरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा (छा० ५।१०।७)

जिनका यहां चरित शुद्ध रहा है, वह जल्दी उत्तम योनि को प्राप्त होंगे—चाहे ब्राह्मण की योनि को, वा क्षत्रिय की योनि को, वा वैश्य की योनि को। और वह जिनका चरित यहां नीच रहा है, वह जल्दी ही नीच योनि को प्राप्त होंगे—चाहे कुत्ते की योनि को वा सूअर की योनि को वा चण्डाल की योनि को॥ यहां जो चरित को जन्मान्तर में शुभाशुभ योनि की साधनता बतलाई है, यह भी प्रत्यक्ष और अनुमान की पहुंच से परे केवल वेदैकगम्य है।

स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि भी धर्म में प्रमाण हैं। पर यह वेद की न्याई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं, और सर्वथा प्रमाण नहीं। स्मृति-वेदवेत्ताओं की बनाई स्मृति वेदानुकूल होने से प्रमाण होती है, अतएव भ्रान्ति से वा लोभादि कारणान्तर से कहीं वेद के प्रतिकूल हो. तो उस विषय में वह प्रमाण नहीं होसक्ती है, और यह भ्रान्ति आदि का होना मनुष्यता के हेतु से होता है। सदाचार=धार्मिक पुरुषों का आचार, यह भी धर्म में प्रमाण होता है, क्योंकि धार्मिक पुरुष धर्म के विरुद्ध नहीं चलता है, वह अपने आचरण को श्रुति और स्मृति की मर्यादा में रखता है। पर यहां भी मनुष्यता के कारण भ्रान्ति वा कारणान्तर से त्रुटि होजाती है, ऐसी दशा में उसका आचार अनुकरणीय नहीं होता। आचार में त्रुटि सच को समझते हुए भी हृदय की दुर्बलता से होजाती है, जो स्मृति में बहुत न्यून सम्भव है, अतएव सदाचार से स्मृति बलवती है, यद्यपि दोनों पौरुषेय हैं। आत्मतुष्टि= हृदय का सन्तोष, जिस काम के करने में हृदय को सन्तोष होता है, हृदय इस बात की साक्षी देता है, कि ऐसा करना धर्मानुसार है, वह भी धर्म है, इस प्रकार आत्मतुष्टि भी धर्म में प्रमाण है, इसी को हृदय-क्रोशन (हृदय की पुकार) भी कहते हैं। पर यह स्मरण रहे, धर्म का सच्चा मार्ग वही हृदय दिखलाता है, जिसमें पहले धर्मानुष्ठान की वासना हैं। जिस तरह जिस वस्त्र में चंबेली के फूल डालेगए हैं, उन फूलों के निकाल लेने पर भी उस वस्त्र से चंबेली की वास आती है, इसी तरह जिस हृदय में धर्म बसा हुआ है, उससे सदा धर्म की ही वास आती है। पर यह भी स्मरण रहे, कि ऐसा हृदय किसी विरले पुण्यात्मा का होता है, साधारण लोगों का

(८) स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि।

हृदय तो धर्म की अपेक्षा रागद्वेष की वासना से अधिक वासित होता है, इसलिये आत्मतुष्टि एक दुर्बल प्रमाण है, आत्मतुष्टि से बढ़कर सदाचार, सदाचारसे बढ़कर स्मृतिऔर स्मृतिसेबढ़कर श्रुतिप्रमाण है।

(८) मन्त्र और ब्राह्मण

कर्म में मूलप्रमाण मन्त्र हैं, अतएव कहा है–"मन्त्रश्रुत्यं चरामसि" जैसा मन्त्रों में कहा है, वैसा चलते हैं (ऋग् १०। १३४। ७) तथा तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके (मुण्ड० १। २। १)= सो यह सत्य है, कि मन्त्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा है, वह त्रेता (ऋग्, यजुः, साम) में बहुत विस्तृत हैं। हे सचाई के चाहने वालो! उनका नियम से आचरण करो, इस कमाई के लोक में यह तुम्हारे लिये मार्ग है॥ मन्त्रने जिस कर्म को प्रकाशित किया है, ब्राह्मण उसकी इतिकर्तव्यता और फल का वर्णन करता है। सो इस दर्शन में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के वाक्यों का विचार है। यज्ञ के विषय में मन्त्र और ब्राह्मण का इतना घना सम्बन्ध है, कि दोनों एक दूसरे से अलग नहीं होसक्ते। मन्त्रों के साथ ही साथ यज्ञ की प्रक्रिया भी परम्परा से चली आई है, उस परम्परा से श्रुत प्रक्रिया का ही ब्राह्मणों में वर्णन है, अतएव उसको श्रुति कहाजाता है। "उरुप्रथस्व"=बहुत फैलजा' यह मन्त्र पुरोडाश के प्रकरण में है, इससे क्या कर्म करना चाहिये, यहबात परम्परा से सुनी जाती हुई ब्राह्मणमें इस तरह कही गई है, 'उरुप्रथस्वेति प्रथयति' 'उरुप्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश को फैलाता है। सो यह परम्पराश्रुत इतिकर्तव्यता प्रायः

ब्राह्मण में है, अतएव कर्म काण्ड में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों विचार का विषय हैं। पर ब्राह्मण से मन्त्र प्रबल प्रमाण है। कर्म काण्ड जब तक जीवित रहा है, तब तक युक्ति और प्रमाण से उस में परिवर्तन होता रहा है। अतएव ऐतरेय तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में "तत्तन्नादृत्यम्"=इसलिये इसका आदर नहीं करना चाहिये। "तत्तथा न कार्यम्"=इसलिये वैसा नहीं करना चाहिये, इन वाक्यों से बहुत सी प्रचलित विधियों का निषेध कियागया है।

(१०) कर्म की तीन आवश्यकताएं।

कर्म को तीन बातों की आवश्यकता है-साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता की। दर्श पूर्ण मासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत इत्यादि वाक्य से स्वर्ग का उद्देश करके पुरुष के प्रति यज्ञ का विधान किया है। यहां स्वर्ग साध्य है। यज्ञ साधन है, और प्रयाज आदि अंग उसकी इति कर्तव्यता को पूरा करते हैं।

(११) कर्म के लिये विचारणीय स्थल

कर्म के लिये विचारणीय स्थल पांच हैं, विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद।

(१२) विधि।

अज्ञात अर्थ का ज्ञापक भाग विधि है। विधि का प्रयोजन यह है, कि वह किसी ऐसे अर्थ का विधान करे, जो किसी प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं होसक्ता, जैसाकि "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष अग्निहोत्र होमे' यह विधि स्वर्ग प्रयोजन वाले होम का विधान करती है, जो प्रमाणान्तर (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से अप्राप्त

है। जहां कर्म का विधान किसी दूसरी विधि से पहले होचुका है, वहां उस कर्म के उद्देश से गुणमात्र का विधान करती है, जैसे 'दध्नाजुहोति'=दही से होम करे' यहां 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग कामः' इस विधि से प्राप्त जो होम है, उसके उद्देश से दधिमात्र गुण (अंग) का विधान किया है। जहां कर्म और गुण दोनों अप्राप्त हों, वहां दोनों का विधान करती है, जैसे "सोमेन यजेत"=सोम से याग करे, यहां याग और उसके गुण सोम दोनों का इकट्ठा विधान है, क्योंकि इससे पूर्व यज्ञ का अलग विधान नहीं हुआ।

(१३) विधि के चार भेद

विधि चार प्रकार की है—उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि, और प्रयोग विधि।

(१४) उत्पत्ति विधि।

कर्म के स्वरूपमात्र की बोधक जो विधि है, वह उत्पत्ति विधि है, जैसे "अग्निहोत्रं जुहोति - अग्निहोत्र होमे।

(१५) विनियोगविधि।

अङ्ग और प्रधान के सम्बन्ध की बोधक विधि विनियोग-विधि है, जैसे "दध्ना जुहोति" दही होम का अंग है,सो यह विधि दही का होमके साथ सम्बन्ध बतलाती है—दही रूप द्रव्य के द्वारा होमका सम्पादनकरे।

(१६) शेषशेषिभाव में बादरि और जैमिनि का मत भेद।

बादरि मानता है,कि दूसरे का उपकारी होना यह शेषभाव (अंगभाव) है, अतएव उसके मत में द्रव्य गुण और संस्कार ही शेष होते हैं, 'द्रव्य गुणसंस्कारेषु बादरिः' (स्फ्य, कपाल

आदिक) द्रव्य (लाल होना आदि) गुण और (धानका कूटना छिड़कना आदि) संस्कार (इन्हीं तीनों) में शेषभाव बादरि मानता है। स्वर्गरूप फल, उसकी कामना वाला पुरुष और दर्श पूर्णमासरूप कर्म, यह शेष नहीं, क्योंकि उपकारी होना जो शेष का लक्षण है, वह इन तीनों में नहीं घटसक्ता. यह तीनों कर्म में किसी के उपकारी नहीं, किन्तु उपकृत होने वाले हैं। पर जैमिनि के पक्ष में परार्थ होना ही शेषभाव है, अतएव उसके पक्ष में कर्मफल और पुरुष भी शेष हैं, जैसाकि कहा है-"कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्।४। फलं च पुरुपार्थत्वात्।५।पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् । ६ । "=जैमिनि मानता है, कि कर्म भी शेष हैं, क्योंकि वह फल के लिये होते हैं।४। और फल भी शेष है, क्योंकि वह पुरुष के लिये है।५। और पुरुष भी,क्योंकि वह कर्म के लिये है।६।

(१७) विनियोग विधि के सहकारी छः प्रमाण।

विनियोग विधि के सहकारी (साथी) छः प्रमाण हैं—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, और समाख्या। इन की सहायता से विधि अंगता अर्थात् परार्थ होना सिद्ध करती है, जैसे दही का होमार्थ होना। परार्थ को शेष और प्रधान को शेषी कहते हैं। और इनके सम्बन्ध का नाम शेषशेषीभाव वा अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है।

(१८) श्रुति और उस के भेद।

विनियोग के सहकारियों में जो श्रुति कही है, वह किसी ऐसे शब्द का नाम है, जो विनियोग में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करे। श्रुति तीन प्रकार की है, विधात्री, अभिधात्री और

विनियोक्त्री। विधात्री = विधान करने वाली, लिङ् लट्तव्यादि प्रत्यय जो विधि बोधक हैं वही विधात्री श्रुति से अभिप्रेत हैं। अभिधात्री =अभिधान (नाम) के कहने वाली, जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" में व्रीहि शब्द है। विनियोक्त्री=विनियोग करने वाली, जिस शब्द के सुनने से ही शेषशेषीभाव (अङ्गाङ्गिभाव) सम्बन्ध प्रतीत हो, वह विनियोक्त्री है, वह तीन प्रकार की है, विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा और एकपदरूपा। जैसे 'व्रीहीभिर्यजेत' में तृतीया विभक्ति की श्रुति से व्रीहि को याग की अंगता प्रतीत होती है—व्रीहि से यजन करे। यहां तृतीया विभक्ति से व्रीहि का यज्ञ में विनियोग स्पष्ट है। व्रीहि साक्षात् अंग नहीं, किन्तु उनसे यज्ञीय पुरोडाश बनाया जाता है, सो पुरोडाश की प्रकृतिरूप (उपादान कारणरूप) से वह याग का अंग है। ज्योतिष्टोम के प्रकरण में है "अरुणया पिंगाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति"=रंग की लाल, पीली आंख वाली, एक बरस की गौ से सोम को खरीदे' यहां लाल रंग भी 'अरुणया' इस तृतीया की श्रुति से याग का अंग प्रतीत होता है, सो रंग भी साक्षात् अंग नहीं, क्योंकि रंग अमूर्त वस्तु है, किन्तु याग का अंग जो सोम है, उस सोमको खरीदने योग्य जो गौ है, उसका निखरने वाला होने से याग का अंग है। इस प्रकार अन्य विभक्तियों से भी विनयोग का निश्चय होता है, जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' धान्यों को छिड़के। यहां 'व्रीहीन्'=धान्यों को, इस द्वितीया की श्रुति से प्रोक्षण (छिड़कना) धान्य का अंग प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानी मादत्ते' 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इस मन्त्र से घोड़े की बाग को पकड़ता है, यहां 'अश्वाभिधानीम्'=

घोड़े की बाग को इस द्वितीया की श्रुति से मन्त्र बाग पकड़ने का अङ्ग प्रतीत होता है " यदाहवनीये जुहोति "=जब आहवनीय में होमता है' यहां " आहवनीये" =आहवनीय में, इस सप्तमी की श्रुति से आहवनीय को होम की अङ्गता प्रतीत होती है। अन्यत्र भी विभक्ति श्रुति से इसी तरह विनियोग को जानना चाहिये। एकाभिधानरूपा और एकपदरूपा, जैसे "यजेत" यहां आख्यात प्रत्यय से जो एकत्व संख्या कही गई है, वह एकाभिधान श्रुति से कर्ता का अङ्ग है, क्योंकि एकही आख्यात एकत्व संख्या का और कर्त्ता का अभिधायक है, और एकपदश्रुति से संख्या याग का अङ्ग है। क्योंकि " यजेत " यही एक पद संख्या और याग दोनों का अभिधायक है।

(२०) लिङ्ग

"सामर्थ्यंसर्वशब्दानां लिंगमित्यभिधीयते" सारे शब्दों का जो सामर्थ्य है उसको लिङ्ग कहते हैं, जैसे " बर्हिर्देवसदनंदामि " कुशा जो पुरोडाश का आसन है उसको काटता हूं' यहां शब्दों के सामर्थ्य से यह मन्त्र कुशा के काटने का अङ्ग प्रतीत होता है।

(२१) वाक्य

साथ उच्चारण होना वाक्य है। अर्थात् शेषशेषिभाव की वाचक विभक्ति के न होते हुए भी शेषशेषिवाचक पदों का साथ उच्चारण होना, जैसे " यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति "=जिसकी पलाश की जुहू होती है, वह अपने अपयश को नहीं सुनता है। यहां पलाश और जुहू के एक साथ उच्चारण से ही पलाश जुहू का अङ्ग प्रतीत होता है।

परस्पर दोनों को एक दूसरे की आकांक्षा होनी प्रकरण है

(२२) प्रकरण

जैसे प्रयाजादियों में "समिधो यजति"= समिधों को यजन करता है' इत्यादि वाक्य में कोई फल विशेष नहीं दिखलाया, इसलिए इस वाक्य के बोध के अनन्तर यह आकांक्षा उत्पन्न होती है, कि समिद्याग से क्या सिद्ध करे, इसप्रकार इत्यादि वाक्य में उपकार्य (साध्य) की आकांक्षा है। दर्श पूर्णमास वाक्य में भी दर्श पूर्णमास से स्वर्ग साधन करे, इस बोध के अनन्तर "किस प्रकार सिद्ध करे" इस प्रकार उपकारक (साधन) की आकांक्षा उत्पन्न होती है। इस प्रकार दोनों ओर से आकांक्षा होने से प्रयाजादि दर्श पूर्णमास का अङ्ग सिद्ध होते हैं।

(२३) महा प्रकरण और अवान्तर प्रकरण

प्रकरण दो प्रकार का है, महा प्रकरण और अवान्तर प्रकरण। प्रधान कर्म्म सम्बन्धि प्रकरण महा प्रकरण है, और अङ्ग सम्बन्धि प्रकरण अवान्तर प्रकरण है। महाप्रकरण से प्रयाजादि दर्श पूर्णमास का अङ्ग सिद्ध होते हैं, और अवान्तर प्रकरण से अभिक्रमण आदि प्रयाजादि का अङ्ग सिद्ध होते हैं, क्योंकि वह प्रयाज का प्रकरण चलाकर उसको समाप्त करने से पहले पढ़े गए हैं।

(२४) प्रकरण किस का विनियोजक होता है

प्रकरण साक्षात् विनियोजक क्रिया का होता है, और द्रव्य और गुण का क्रिया द्वारा। क्योंकि "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्य द्वारा "याग से स्वर्ग साधन करे" इस बोध के अनन्तर "कैसे सिद्ध करे" जब यह आकांक्षा हुई, तो उस प्रकरण में पढ़ी वह सारी क्रिया, जिसका वहां स्वतन्त्र फल नहीं कहा है, इसकी इतिकर्तव्यता के

तौर पर सम्बद्ध होती है। लोक में 'कैसे साधन करे' इस आकांक्षा में क्रिया का ही अन्वय देखा जाता है। जैसे 'हाथ के कुल्हाड़े से काटे' यहां कैसे काटे, इस आकांक्षा में साथ उच्चारण किया हुआ भी हाथ अन्वित नहीं होता, किन्तु हाथ से उगरकर और गिराकर काटे। इसप्रकार उगरना और गिराना ही अन्वित होते हैं। हाथ उनके द्वारा ही अन्वित होता है, यह लोक प्रसिद्ध बात है।

(२५) स्थान और उसके भेद

स्थान=जगह=क्रम। समान स्थान पर होना क्रम है, वह दो प्रकार का है-पाठकृत और अर्थ कृत। पाठ कृत भी दो प्रकार का है- यथासंख्य और सान्निधि। जैसे "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्"=इन्द्र और अग्नि सम्बन्धि ग्यारह कपालवाले पुरोडाश का निर्वाप करे। और "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्"=वैश्वानर सम्बन्धि बारह कपाल वाले पुरोडाश का निर्वाप करे। इस प्रकार क्रम से विहित जो ऐन्द्राग्नेष्टियाग और वैश्वानरेष्टियाग हैं, उनके याज्या और अनुवाक्या मन्त्र "इन्द्राग्नीरोचनादिवः" इत्यादि पढ़े हैं, पर यह नहीं बतलाया, कि ऐन्द्राग्नेष्टि के याज्या अनुवाक्या कौन हैं, और वैश्वानरेष्टि के कौन। सो यहां क्रम के अनुसार पहले दोनों मन्त्र एन्द्राग्नेष्टि के और दूसरे दोनों वैश्वानरेष्टि के याज्या अनुवाक्या जानने चाहियें। और "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे" दैव्य कर्म के लिये शुद्ध होवो, यह मन्त्र शोधनीय वस्तुओं में सांझा भागना है, पर वहां इसके अनन्तर "मातरिश्वनः" इत्यादि मन्त्रों में सांनाय्यपात्र भासते हैं, इस प्रकार संनिधि से उन्हीं पात्रों के प्रोक्षण में 'शुन्धध्वम्' यह मन्त्र विनियुक्त होता है। और अर्थ

क्रत संनिधि से उपाकृत आदि धर्म अग्निषोमीय के अंग होते हैं।

यौगिक शब्द **समाख्या** है। जैसे यज्ञ में प्रयोजनीय याज्या पुरोनुवाक्या पाठादि धर्म ऋग्वेद में कहे हैं, दोहननिर्वापादि धर्म यजुर्वेद में, और आज्य-स्तोत्र पृष्ठस्तोत्रादि सामवेद में। सो इनमें से कौन ऋत्विज् किसका अनुष्ठान करे, यह नियम हौत्र (होतृ सम्बन्धि) आध्वर्यव (अध्वर्यु सम्बन्धि) और औद्गात्र(उद्गातृ सम्बन्धि)इन समाख्याओं से होता है।

(२६) समाख्या।

लिङ्ग, और समाख्या दोनों में शब्द के सामर्थ्य से विनियोग होता है। पर यह भेद है, कि लिङ्ग में रूढि शब्दों का सामर्थ्य लिया जाता है, और समाख्या यौगिक शब्द है।

(२७) लिङ्ग, और समाख्या में भेद।

श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां सम-वाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ३।३।१४

(२८) श्रुत्यादि में पूर्व पूर्व प्रबल होता है।

श्रुति,लिङ्ग, वाक्य,प्रकरण,स्थान औरसमाख्या के मेल में परला दुर्बल होता है, इसलिये कि उसका विषय दूर जा पड़ता है। सो इस नियम से श्रुति लिङ्गादियों से प्रबल होती है, क्योंकि लिङ्ग में सीधा विनियोग कहा हुआ नहीं होता, किन्तु कल्पना कियाजाता है, और जब तक कि विनियोग की कल्पना की जाए, उससे पहले प्रत्यक्ष श्रुति विनियोग कर देती है, तब कल्पना शक्ति प्रतिबद्ध होजाती है। "**कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे**"=हे इन्द्र तू कभी हानिकारक नहीं है, किन्तु दाता के लिये प्रसन्न होता है। इस ऐन्द्री ऋचा का लिङ्ग से विनियोग करना हो, तो इन्द्र के उपस्थान में होना चाहिये, पर "**ऐन्द्र्यागार्हपत्यमुपतिष्ठते**" ऐन्द्री ऋचा

से गार्हपत्य का उपस्थान करता है' यह प्रत्यक्ष श्रुति गार्हपत्य के उपस्थान में इसका विनियोग करती है। सो लिङ्ग को यहां दुर्बल मान कर प्रत्यक्ष श्रुतिसे ऋचाका गार्हपत्य के उपस्थानमें विनियोग होता है। अर्थात् यहां इन्द्र शब्द गौणरूप से गार्हपत्य का बोधक है। एवं वाक्यादि की अपेक्षा से लिङ्ग प्रबल होता है. जैसे "स्योनं ते सदनं कृणोमि...तस्मिन् सीद" (हे पुरोडाश) अच्छा तेरा स्थान बनाता हूं....उस पर बैठ। यह 'उस पर' ऐसा कहने से सारा ही मन्त्र एकवाक्य है, सो सारा ही मन्त्र एक काम में लगाना चाहिये,पर 'स्थान बनाता हूं' इसलिङ्ग से पूर्वार्ध तो पुरोडाश का स्थान बनाने में विनियुक्त होता है,और 'उस पर बैठ' इस लिङ्ग से उत्तरार्ध पुरोडाश को उस स्थान पर रखने में विनियुक्त होता है। क्योंकि वाक्य से पहले लिङ्ग की कल्पना होकर फिर श्रुतिकी कल्पना होती है, सो जितने में वाक्य से लिङ्ग की कल्पना होगी, कि यह वाक्य पुरोडाश का स्थान बनाने में विनियुक्त होना चाहिये वा स्थापन करने में विनियुक्त होना चाहिये, उतने में लिङ्ग इसके पूर्वार्ध को स्थानकरण में और उत्तरार्ध को स्थापनकरण में विनियुक्त कर देगा। एवं प्रकरणादि की अपेक्षा से वाक्य प्रबल होता है, जैसे "अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्"=अग्नि और सोम इस हवि को सेवन करें, और "इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्"=इन्द्र और अग्नि इस हवि को सेवन करें' यह दो मन्त्र दर्श पूर्णमास के प्रकरण में पढ़े हैं। इनमें से इकट्ठे अग्नि सोम तो पूर्णमास के देवता हैं,इसलिये पूर्णमास में ही उनका प्रयोग होसक्ता है, पर मन्त्र का शेषभाग (अग्नीषोमौ को छोड़कर केवल 'इदं हवि' इत्यादि) दर्श में भी पढ़ा जाना चाहिये, क्योंकि यह मंत्र दर्श पूर्णमास दोनों के प्रकरण

में है, इसी प्रकार इकट्ठे इन्द्र अग्नि दर्श के ही देवता है, दर्श में ही उनका प्रयोग होसक्ता है, पर 'इन्द्राग्नी' पद को त्यागकर मन्त्र का शेषभाग पूर्णमासमें भी पढ़ा जाना चाहिये,क्योंकि प्रकरण दोनोंका है। पर 'इदं हविः' इत्यादि एक जगह 'अग्नीषोमौ' के साथ एक वाक्य होने से अब दर्शका अंग नहीं होता,और दूसरी जगह 'इन्द्राग्नी' के साथ एकवाक्य होने से पूर्णमास का अंग नहीं होता है। एवं प्रकरण स्थानादि की अपेक्षा से प्रबल होता है, जैसाकि **राजसूय** के प्रकरण में बहुत से प्रधानभूत याग कहे हैं, उनमें **अभिषेचनीय** नामक सोमयाग है, उसकी सन्निधि में देवनादि कई धर्म पढ़े हैं, वह स्थान से तो अभिषेचनीय के अंग होने चाहियें। पर राजसूय के लिये इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षामें पढ़े हुए देवनादि धर्म प्रकरण से राजसूय के अंग सिद्ध होते हैं। जब वह राजसूय का अंग हुए तो फिर उन सब यागों का अंग होजाते हैं, जिनका समुदाय राजसूय है। सो इस प्रकार प्रकरण से सन्निधि का बाध होने से देवनादि राजसूय के अंग हैं, नकि अभिषेचनीय के। एवं स्थान (क्रम) समाख्या की अपेक्षा से प्रबल होता है, जैसे **"शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे"** दैव्य कर्म के लिये शुद्ध होवो, यह पौरोडाशिक काण्ड में पढ़ा है, सो पौरोडाशिक (पुरोडाश सम्बन्धि) इस समाख्या से पुरोडाश काण्ड में कहे हुए उलूखल जुहू आदि के शोधन में भी अंग होना चाहिये, पर संनिधि के प्रबल होने से सांनाय्य पात्रों के शोधन का ही अंग यह मन्त्र है।

(२८) विनियोग विधि से विनियोक्तव्य अंग।

श्रुत्यादि की सहायता द्वारा विनियोग विधि से जिन अंगों का विनियोग होता है, वह दो प्रकार के हैं **सिद्धरूप** और **क्रियारूप**। उनमें से जाति (गौ आदि) द्रव्य (व्रीहि आदि) और

संख्या (एकत्वादि) आदि सिद्धरूप है, और क्रियारूप दो प्रकार के हैं-गुणकर्म और प्रधानकर्म। इन्हीं को क्रम से सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक भी कहते हैं। कर्म के अंग जो द्रव्यादि हैं, उनके उद्देश से विधीयमान कर्म अर्थात् यज्ञिय द्रव्य आदि का संस्कार करने वाला कर्म सन्निपत्योपकारक होता है जैसे व्रीहि का अवघात (छड़ना) प्रोक्षण (छिड़कना) आदि। इसी को आश्रयिकर्म और समवायिकर्म भी कहते हैं। और द्रव्यादि के उद्देश के विना केवल विधीयमान कर्म आरादुपकारक होता है, जैसे प्रयाजादि।

(३०) फल भेद से अंगों के तीन भेद।

फलभेद से अंगों के तीन भेद हैं, दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ और दृष्टादृष्टार्थ। दृष्टार्थ वह अंग हैं, जिनका प्रयोजन सीधा दीखता है, और अदृष्टार्थ वह हैं, जिनका प्रयोजन प्रत्यक्ष से परे है, चाहे इस लोक में मिले वा परलोक में। सिद्धरूप जितने अंग हैं, वह सब दृष्टार्थ होते हैं, जैसे गौ से सोम खरीदते हैं, और व्रीहि से यजन करते हैं। गुण कर्म जो कि उन द्रव्यादि अंगों के संस्कार करने वाले हैं, उन में से कई दृष्टार्थ होते हैं, जैसे व्रीहि का कूटना चावल निकालने के लिये है, क्योंकि चावलों के विना पुरोडाश बन नहीं सक्ता, पर कई अदृष्टार्थ होते हैं, जैसे व्रीहि का प्रोक्षण करना (छिड़कना) यह केवल अदृष्टार्थ है, क्योंकि प्रोक्षण के विना भी याग का स्वरूप सिद्ध होजाता है, और प्रोक्षण से कोई दृष्ट उपकार होता नहीं। और पुरोडाशादि का त्याग दृष्टादृष्टार्थ होता है, क्योंकि द्रव्यत्यागरूप अंश से ही वह अदृष्ट को उत्पन्न करता है, और देवता के उद्देश से किया जाता है, इसलिये देवता स्मरणरूप दृष्ट को भी उत्पन्न करता है। प्रधान

कर्म सारे अदृष्टार्थ ही होते हैं,सो प्रधान कर्म परम अपूर्व* की उत्पत्ति में ही उपयुक्त होता है, पर गुणकर्म द्रव्य देवता के संस्कार द्वारा याग के स्वरूप में भी उपयुक्त होता है। सो यह विनियोग विधि का वर्णन है। अब—

(२१) प्रयोगविधि।

अंगों के क्रम का बोधक विधि **प्रयोगविधि** है। यह विधि कोई अलग नहीं होती, किन्तु सारे अंगवाक्यों के साथ एक वाक्य हुई हुई प्रधानविधि ही प्रयोगविधि है। क्योंकि यदि इसप्रकार इनको एकविधि न बना लिया जाए, तो इस क्रम से एक के पीछे दूसरा कर्म करते चले जाना चाहिये, बीच में विलम्ब नहीं करना चाहिये, यह बात सिद्ध नहीं होती। प्रयोगविधि बीच में विलम्ब को निवारण करती है,और नियत क्रम का विधान करती है।

(२२) क्रम के बोधक छः प्रमाण।

क्रम के बोधक छः प्रमाण हैं—**श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य, और प्रवृत्ति।**

(२३) श्रुति।

क्रमपरक वचन **श्रुति** है। वह वचन दो प्रकार का होता है केवल क्रमपरक और क्रमविशिष्ट पदार्थ-परक'। "**वेदं कृत्वा वेदिं करोति**" वेद (कुशा की मुट्ठी विशेष) को बनाकर वेदिको बनाता है, यह वचन केवल क्रमपरक है, क्योंकि वेद और वेदि का बनाना अन्य वचन

---

* जब कोई पुण्य कर्म कियाजाता है, तो उसका सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण पर पड़ता है, वही कालान्तर वा जन्मान्तर में होने वाले फल का बीज होता है, इसी को अपूर्व कहते हैं, परम अपूर्व वह है जो प्रधान कर्म का संस्कार है।

से प्राप्त है। और "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः"=वषट्कर्ता का प्रथम भक्ष होता है' यही श्रुति जिसलिये वषट्कर्ता के भक्षणको और यही पहले भक्षण को बोधन करती है, इसलिये यह क्रमविशिष्टपदार्थपरक है।

जहां प्रयोजन के वश से निर्णय हो, वह **अर्थक्रम** है, जैसे

(३४) अर्थक्रम।

"अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति" अग्निहोत्र करे, यवागू को पकाए। यहां यद्यपि अग्निहोत्र पहले कहा है और यवागूपाक उसके अनन्तर कहा है, पर यवागूपाक होम के लिये है, इसलिये पहले यवागू को पकाता है और पीछे उसका होम करता है यह क्रम है।

पाठ का क्रम **पाठक्रम** है, जिस क्रम से वाक्य पढ़े गए हैं,

(३५) पाठक्रम।

उसी क्रम से उनका अर्थ प्रतीत होता है, और प्रतीति के क्रम से अनुष्ठान होना चाहिये।

पाठ दो प्रकार का है-**मन्त्रपाठ** और **ब्राह्मणपाठ**।

(३६) पाठ के दो भेद मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ

आग्नेययाग और **अग्नीषोमीययाग** के अनुष्ठान का क्रम मन्त्रपाठ के आश्रय लिया जाता है। आग्नेयाग के याज्या अनुवाक्या मन्त्र संहिता में पहले हैं, इसलिये यह पहले किया जाता है, और अग्नीषोमीय के पीछे हैं, इसलिये वह पीछे किया जाता है। यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवत्तर है, क्योंकि अनुष्ठान में ब्राह्मण-वाक्यों की अपेक्षा से मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग होता है, ब्राह्मणवाक्य का काम तो प्रयोग (अनुष्ठान) से अलग ही 'यह करना चाहिये' इतनामात्र बोधन कराना है, पर मन्त्र प्रयोगकाल में बोले जाते हैं। अब जिसलिये अनुष्ठान का क्रम स्मरण के क्रम के अधीन होता है, इसलिये मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग है,

अतएव यद्यपि ब्राह्मण में अग्नीषोमीययाग पहले पढ़ा है, और आग्नेय पीछे, पर मन्त्रक्रम से आग्नेय पहले स्मरण होता है और अग्नीषोमीय पीछे, क्योंकि आग्नेय के याज्या अनुवाक्या मन्त्र पहले हैं, और अग्नीषोमीय के पीछे, इसलिये आग्नेय पहले किया जाता है, और अग्नीषोमीय पीछे। प्रयाजों का जो "समिधोयजति, तनूनपातंयजति" इत्यादि विधिपाठ के क्रम से क्रम है, वह ब्राह्मणपाठ के क्रम से है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अपने अर्थ का विधान करके कृतार्थ होजाते हैं, तथापि प्रयाजादियों के क्रम के स्मारक और कोई (श्रुति आदि) है नहीं, इसलिये क्रम के स्मारक भी वही स्वीकार किये जाते हैं।

(३७) स्थान क्रम।

स्थान=उपस्थिति। अर्थात् विकृतियागों* में जो प्रकृतियाग*के अंग अनुष्ठेय होते हैं, उनमें से प्रकृतियाग के अनुसार जिसकी पहले उपस्थिति होती है, उसका पहले, और जिसकी पीछे होती है, उसका पीछे अनुष्ठान करना चाहिये, यही स्थान क्रम है।

(३८) मुख्यक्रम।

प्रधान के क्रम से जो प्रयोग के अंगों का क्रम है, वह मुख्य-क्रम है। अर्थात् जहां अनेक प्रधानयागों का साथ अनुष्ठान कहा है, वहां उनके अंगों का अनुष्ठान प्रधान के क्रम से ही करना चाहिये। जैसे आग्नेययाग

* प्रकृति वह है, जिस के संपूर्ण अङ्ग वहीं उपदेश करदिये हों, और जहां विशेष अंगमात्र का उपदेश हो, दूसरे अंग प्रकृति से लिये जाते हों, उसे विकृति कहते हैं। प्रकृति तीन प्रकार की है अग्निहोत्र, इष्टि, और सोम।

और ऐन्द्रयाग दोनों पूर्वापर हैं, सो इनके अनुसार ही पहले आग्नेय हवि का अभिघारण और पीछे ऐन्द्रदधि का होना चाहिये, फिर आग्नेययाग और ऐन्द्रयाग होने चाहियें, ऐसा करने में दोनों अभिघारणों को अपने २ प्रधान के साथ एक २ का व्यवधान पड़ता है, अर्थात् आग्नेयाभिघारण और आग्नेययाग के मध्य में एक ऐन्द्राभिघारण का व्यवधान आगया, और ऐन्द्राभिघारण और ऐन्द्रयाग में एक आग्नेय याग का व्यवधान आगया, पर यदि उलटा किया जाए, पहले ऐन्द्राभिघारण और पीछे आग्नेयाभिघारण हो, तो आग्नेयाभिघारण और आग्नेययाग में तो कोई व्यवधान न रहेगा, और ऐन्द्राभिघारण और ऐन्द्रयाग में आग्नेयाभिघारण और आग्नेययाग इन दो का व्यवधान होजायगा।

(३८) प्रवृत्तिक्रम।

जहां बहुत सों के विषय में कई कर्म इकट्ठे करने होते हैं, वहां उन कर्मों में से पहले उन सब के विषय में एक कर्म कर दिया जाता है, फिर जिस क्रम से पहले प्रवृत्त हुए थे, उसी क्रम से दूसरा आदि कर दिया जाता है, उसे **प्रवृत्तिक्रम** कहते हैं।

(४०) श्रुत्यादियों में पूर्व २ प्रबल होता है।

श्रुति दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होती है, अतएव आश्विनग्रह यद्यपि तीसरे स्थान में पढ़ा है, इसलिये पाठक्रम से तीसरे स्थान में होना चाहिये, पर "**आश्विनो दशमो गृह्यते**"=आश्विन दसवां ग्रह लिया जाता है' इस श्रुतिवचन से दसवें स्थान पर ग्रहण किया

जाता है। इसी प्रकार अर्थक्रम पाठक्रमादि की अपेक्षा बलवान् है, पाठक्रम स्थानक्रमादि की अपेक्षा, स्थानक्रम मुख्यक्रमादि की अपेक्षा, और मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम की अपेक्षा बलवान् है। यह प्रयोगविधि का निरूपण हुआ, अब।

इस कर्म का कौन अधिकारी है, यह जिस में बतलाया हो, वह अधिकारविधि है। अधिकारी सर्वत्र पुरुषविशेष होता है, विशेष का निश्चय

(४१) अधिकारविधि

उसके विशेषणों से होता है, वह विशेषण काम्य कर्मों में तो फल की कामना है, जैसे "स्वर्गकामोयजेत" में 'स्वर्गकामः' स्वर्गकी कामना' पुरुष का विशेषण है, सो जिसको यह कामना है, वह याग का अधिकारी है। नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय पुरुष का विशेषण होता है, जैसे "यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नेय क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्"=जिस आहिताग्निके घरों को अग्नि दग्ध करे, वह क्षामवत् अग्नि के लिये निर्वाप करे' यहां जिस आहिताग्नि को अग्निदाहरूप निमित्त का निश्चय है, वह इसका अधिकारी है। और इस पूर्वोक्त कर्म का फल उसके दुरदृष्ट का क्षय होना है। नित्यकर्म में कृतज्ञ होना विशेषण है, अतएव नित्य के त्याग में प्रत्यवाय (पाप) होता है। कहीं २ अधिकारविधि में न पठा हुआ विशेषण भी अधिकारी का विशेषण होता है। जैसे अग्निसाध्यकर्म सब आहिताग्नि के लिये होते हैं, इसलिये आहिताग्नि होना भी उन २ कर्मों में अधिकारी का विशेषण है। (विधि समाप्त हुआ)।

प्रयोग के साथ सम्बन्ध रखने वाले जो अर्थ (द्रव्य, देवता

(४२) मन्त्र । और इति कर्तव्यतादि) हैं, उनके स्मारक मन्त्र होते हैं । यद्यपि उन अर्थों का स्मरण और प्रकार से भी होसक्ता है, पर मन्त्रों से ही उनका स्मरण करना चाहिये, इसप्रकार इस विषय में नियमविधि मानी गई है ।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येतिगीयते ।

अत्यन्त अप्राप्ति में विधि, पाक्षिक होने पर नियम, और वहां और अन्यत्र प्राप्ति में परिसंख्या गाई जाती है॥ यह आशय है, कि प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ की प्रापक जो विधि है, वह अपूर्वविधि होती है, जैसे स्वर्गार्थ याग किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं है, जिसको "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" यह विधि विधान करती है, इसलिये यह अपूर्वविधि है । पक्ष में अप्राप्त अर्थ की प्रापक जो विधि है, वह नियमविधि है, जैसे "समेयजेत" समस्थान पर याग करे' यह विधि है । याग समदेश पर भी होसक्ता है, और विषम पर भी, यही पाक्षिक प्राप्ति है, अर्थात् यह विधि न भी होती, तो कभी २ समदेश पर भी याग होता । पर विषम पर भी होता, उसको हटाने के लिये यह नियम कर दिया, कि "समेयजेत"। अब नियमविधि होने से यह अर्थ होजाएगा, कि 'सम में ही याग करे' । दोनों की प्राप्ति में से एक को हटाने वाली विधि परिसंख्याविधि होती है, जैसे "ऋतौ भार्यामुपेयात्" ऋतुकाल में स्त्री के पास जाए' । यह अपूर्व विधि नहीं होसक्ती, क्योंकि रागतः प्राप्त है, न कि शास्त्रतः । 'अवश्य ही जाए ' ऐसा नियम भी नहीं होसक्ता, क्योंकि कई ऋतुओं में न

जाना ही उत्तम है, किन्तु अभिप्राय यह है, कि ऋतुकाल से अन्य काल में न जाए ।

"उद्भिदायजेत पशुकामः" पशुओं की कामना वाला उद्भिद् (याग) से यजन करे, यहां उद्भिद् शब्द याग का नामधेय है, किन्तु "दध्ना जुहोति" दही से होम करे, इत्यादि में जैसे दहीरूप गुण (अंग) का विधान है, इस प्रकार यहां अद्भिद् शब्द से किसी गुण का विधान नहीं ।

(४३) नामधेय ।

नामधेय मानने में चार निमित्त होते हैं, मत्वर्थलक्षणा का भय, वाक्यभेदका भय, तत्प्रख्यशास्त्र,और तद्व्यपदेश । "उद्भिदा यजेत पशुकामः" यहां उद्भिद् शब्द से केवल गुण का विधान नहीं होसक्ता, क्योंकि याग का अलग विधान नहीं है । यदि यह गुणविशिष्टयाग की विधि मानें, कि उद्भिद् वाले याग से यजन करे, तो मत्वर्थलक्षणा करनी पड़ती है, नामधेय मानने में लक्षणा नहीं होती, और गुण मानने में उद्भिद् शब्द का कोई प्रसिद्ध अर्थ है भी नहीं, इसलिये उद्भिद् शब्द कर्म का नामधेय है । "चित्रया यजेत पशुकामः"=पशुओं की कामना वाला चित्रा (याग) से यजन करे, यहां चित्रा शब्द कर्म का नामधेय है, क्योंकि यहां गुण का विधान नहीं होसक्ता, "दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलाः तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्"=दही, शहद, दूध, घी, धाना, जल, और चावल, इनसे मिला हुआ प्राजापत्य होता है । इस वाक्य से गुण का

(४४) नामधेय के चार निमित्त ।

अलग विधान किया ही है। इसलिये गुण विशिष्टयाग विधि नहीं बनसक्ती। और यदि याग को फल का सम्बन्ध और गुण का सम्बन्ध दोनों विधान करें, तो वाक्यभेद होता है, इसलिये चित्रा शब्द कर्म नामधेय है। "अग्निहोत्रं जुहोति" अग्निहोत्र होम करे, यहां अग्निहोत्र शब्द कर्म का नाम है, क्योंकि (तत्प्रख्यशास्त्र) उसका, अर्थात् गुण का कहने वाला शास्त्र अलग है। "अग्नयेहोत्रम्"= अग्नि के लिये होम' इस चतुर्थी समास मे अग्नि देवता रूप गुण का विधान नहीं होसक्ता, क्योंकि "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति" "सूर्यो ज्योति र्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः"=अग्नि ज्योति है, ज्योति अग्नि है, इसप्रकार सायं होम करे और सूर्य ज्योति है, ज्योति सूर्य है, इसप्रकार प्रातः होम करे' इस विहित मन्त्र से देवता(सायंकाल अग्नि और प्रातःकाल सूर्य) प्राप्त ही है, उसका विधान आवश्यक नहीं,इसलिये अग्निसूर्य देवता वाले सायंप्रातः अनुष्ठान के योग्य कर्म का 'अग्निहोत्र' यौगिक नामधेय है 'अग्नौ होत्रंयस्मिन्' जिस कर्म में अग्निमें होम किया जाता है'। तद्व्यपदेश उससे उपमा देना। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' श्येन (याग) से अभिचार करता हुआ यजन करे' यहां 'श्येन से' यदि श्येन(बाज़) रूपी गुण का विधान मानें, तो 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते, एवमयंद्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते, यमभिचरति श्येनेन"=जैसे श्येन गिरकर पकड़ लेता है, इस प्रकार वह उस शत्रु पर पड़कर पकड़ लेता है, जिस के लिये श्येन (याग) से अभिचार करता है। इस वाक्य मे कहा हुआ उपमानोपमेयभाव पक्षी अकेले में युक्त नहीं होसक्ता, एक में उपमानोपमेयभाव नहीं

होता। सो पक्षी जो उपमान है, उसका गुण उपमेय कर्म में है, इसलिये श्येन शब्द अभिचारकर्म का नामधेय है।

(४५) निषेध। पुरुष का निवर्तक वाक्य **निषेध** होता है, जैसे 'नानृतं वदेत्'=झूठ न बोले।

(४६) अर्थवाद। स्तुतिपरक वा निन्दापरक वाक्य अर्थवाद होता है, जिसका विधान है, उसकी उत्तमता के बोधक वाक्य और जिसका निषेध है, उसके दोषों के बोधक वाक्य अर्थवाद कहलाते हैं।

(४७) अर्थवाद के तीन भेद। "**विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवाद स्तद्धानादर्थवादस्त्रिधामतः**" =(प्रमाणान्तर के साथ) विरोध में (अर्थवाद) गुणवाद होता है (प्रमाणान्तर से) निर्धारित अर्थ में अर्थवाद अनुवाद होता है, उन दोनों के अभाव में (अर्थात् प्रमाणान्तर से विरोध और प्रमाणान्तर से प्राप्ति दोनों के अभाव में, अर्थवाद) भूतार्थवाद होता है। **गुणवाद** जैसे '**आदित्योयूपः**' यूप सूर्य है' यहां यूप का सूर्य होना प्रत्यक्षबाधित है, इस लिये चमकने के गुण वाला होने से उसकी जो स्तुति की है, वह **गुणवाद** है। **अनुवाद**, जैसे "**अग्निर्हिमस्य भेषजम्**"= अग्नि ठंडकका औषध है'। अग्निका ठंडक को दूर करना प्रत्यक्षसिद्ध है, इसलिये यह **अनुवाद** है। और जनक की सभा आदि में जो ऋषियों के संवादादि वस्तुतः हुए हैं, उनका कथन भूतार्थवाद है, परन्तु यह भी स्मरण रहे, कि आख्यायिका आदि में भूतार्थवाद भी होता है, और विधेय की प्रशंसा के लिये कल्पित आख्यायिका आदि भी होती हैं।

(४८) उपसंहार ॥ इस प्रकार परम्परा से अर्थवाद भी धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति के सहायक हैं।

(४९) कर्म का उद्देश्य। वैदिक कर्म फल कामना से किये हुए शुभ फलों के उत्पादक होते हैं, और अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ज्ञान के उत्पादक होते हैं।

(५०) कर्म में आराध्य देवता। कर्म में आराध्य देवता सर्वत्र शबलरूप में परमात्मा है, उसके स्वरूपादि का वर्णन उत्तर मीमांसा में है।

नवां-वेदान्त-दर्शन।

(१) इस दर्शन का प्रवर्तक। इस दर्शन का प्रवर्तक भगवान् वेदव्यास हैं, उनके नाम पर इसको वैयासिकदर्शन कहते हैं, और वेद का अन्तिम तात्पर्य बतलाने से वेदान्त-दर्शन कहते हैं।

(२) इस दर्शन का उद्देश्य। इस दर्शन का उद्देश्य वेद का परम तात्पर्य परमात्मा में बतलाने का है। अर्थात् सारा ही वेद कहीं शुद्ध स्वरूप से, कहीं शबल स्वरूप से, और कहीं उपलक्षणरूप से परमात्मा का वर्णन करता है। कर्म से भी वही आराध्य है, इसलिये सारा ही वेद साक्षात् वा परम्परा से परमात्मा की ओर लेजाता है। और उसी के दर्शन से स्थिर शान्ति और परम आनन्द मिलता है।

(३) जिज्ञास्य विषय। जैसे पूर्व मीमांसा का जिज्ञास्य विषय धर्म है, वैसे उत्तर-मीमांसा का जिज्ञास्य विषय ब्रह्म है, अतएव इसका आरम्भ इसप्रकार से है "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" अब यहां से ब्रह्म की जिज्ञासा है (वेदान्त १।१।१)

"जन्माद्यस्ययतः" (१।१।२) इस (जगत्) का जन्मादि जिस से है, (वह ब्रह्म है)।

(४) ब्रह्म का लक्षण।

जैसाकि श्रुति बतलाती है "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" (तै० ३। १) जिससे यह भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं, और मरते हुए जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है।

"शास्त्रयोनित्वात्" ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है। ब्रह्म इन्द्रियों की पहुंच से परे है, इसलिये वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं। अनुमान भी उसकी झलकमात्र देता है, पर शास्त्र उसका वह दिव्यस्वरूप दर्शाता है, अनुमान जिससे वरे रह जाता है, अतएव कहा है "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धो नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" (तैत्ति०ब्रा० ३।१२।९) जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् (प्रभु) को वह नहीं जानता है, जो वेद को नहीं जानता है।

(५) ब्रह्म में प्रमाण।

"तत्तुसमन्वयात्" (१।१।४) वह अर्थात् ब्रह्म का शास्त्र प्रमाणक होना, एक तात्पर्य से है। सारे शास्त्र का एक तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन में है, अतएव कहा है "सर्वे वेदा यत्पद मामनन्ति" (कठ० २।१५) सारे वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं। सो श्रुति का तात्पर्य एक ब्रह्म के प्रतिपादन में है, कहीं शुद्ध स्वरूप से, कहीं शबल स्वरूप से, और कहीं उपलक्षण से।

(६) सारे शास्त्र का एक ब्रह्म में तात्पर्य है।

यह आदि के चारों सूत्र वेदान्त की चतुःसूत्री कहलाती हैं इनमें सामान्यरूप से वेदान्त का विचार कर दिया है, विशेषरूप से आगे है।

(७) ब्रह्म का शुद्धस्वरूप।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप वह है, जो उसका "सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्" सारे तत्त्वों से निखरा हुआ (श्वे० २।१५) स्वरूप है। स्वरूपमात्र होने से उसे शुद्ध कहते हैं।

(८) ब्रह्म का शबलस्वरूप

और शबल स्वरूप वह है, जो इन तत्त्वों के साथ मिलकर भासता है। जैसे अग्नि का शुद्ध स्वरूप लाट में है, और शबलस्वरूप अंगारे में है।

(९) शबल स्वरूप में वह जगत् का जीवन है

वह सृष्टि तो यहां है, और वह इस सृष्टि से अलग किसी दूसरी जगह बैठा हुआ हो, ऐसा नहीं है, अथवा इस सृष्टि के अन्दर ही किसी एक जगह पर बैठा हुआ हो, ऐसा भी नहीं है, किन्तु इस सारी सृष्टि में रमा हुआ है, और इस सारी सृष्टि का जीवन बनकर इसमें बैठा हुआ है "प्राणोह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति" प्राण है यह जो सारे भूतों से चमक रहा है (मुण्ड० ३।१।४) सचमुच वह सारी सृष्टि का जीवन है, उसी विश्वव्यापी जीवन के आधार पर अग्नि जलती है, और सूर्य तपता है, सूर्य का वास्तविक तेज वह है "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" जिस तेज से दीप्त होकर सूर्य तप रहा है। सो इसप्रकार वाल सृष्टि में उसके जीवन की तरह उसमें रचा हुआ स्वरूप शबलस्वरूप है, छान्दोग्य (१।७) में हिरण्मय पुरुष शबल स्वरूप कहा है, जिसका अन्तराधिकरण (१।२०-२१) में विचार है इत्यादि। कर्मकाण्ड में जो यज्ञिय देवता कहे हैं, वह सब ब्रह्म के शबलस्वरूप हैं, जैसाकि कहा है-"तद् यदिदमाहुरमुंयजामुं

यजेत्येकैकं देव मेतस्यैव सा विसृष्टिरेषउह्येव सर्वे देवाः"
इसलिये जो यह कहते हैं, कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक २ देव का (याग बतलाते हैं), वह सारी इसी की विसृष्टि (विखरा हुआ स्वरूप अर्थात् व्यष्टिरूप) है, निःसंदेह यह ही सारे देवता है (बृह० १।४।६।)

(१०) उपलक्षण से ब्रह्मका वर्णन।

जहां बाह्य पदार्थ के द्वारा उसके अन्तरात्मापर दृष्टि लेजाना अभिप्रेत होता है, वहां वह बाह्यपदार्थ उसके अन्दरस्थित परमात्मा के जानने का उपलक्षण होता है, जैसे अन्तर्यामि ब्राह्मण (बृह० ३।७) में है "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवी मन्तरोयमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" जो पृथिवी में रहकर पृथिवी से अलग है, पृथिवी जिसको नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथिवी का नियन्ता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है' इत्यादि (देखो अन्तर्याम्यधिकरण—वेदान्त १।२।१८ से २०)। शवलरूप में और उपलक्षण में यह भेद है, कि शवलरूप में बाह्यशक्ति से विशिष्टरूप कहा हुआ होता है, और उपलक्षण में उसके द्वारा उसमें शक्ति देता हुआ केवल स्वरूप।

(११) शुद्धस्वरूप का निषेध मुख शब्दों से वर्णन।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप प्रायः निषेधमुख शब्दों से वर्णन होता है' क्योंकि उसका स्वरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभव से ही जानी जासक्ती है, उपदेश केवल यही होसक्ता है, कि इन ज्ञात वस्तुओं से उसका परे होना जचा दिया जाए, जैसाकि महर्षि याज्ञवल्क्य गार्गी को बतलाते हैं—

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल मनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽ वाय्व-नाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनोऽ तेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं, न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन (बृह० ३।८।८)।

हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है, (कोई रंग उसमें नहीं), बिना स्नेह के है, बिना छाया के है, बिना अन्धेरे के है, वह वायु नहीं, आकाश नहीं, वह असंग है (किसी से जुड़ा हुआ नहीं), रस से रहित है, गन्ध से रहित है, उसके नेत्र नहीं, श्रोत्र नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, उसके तेज (जीवन की गर्मी) नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं परिमाण नहीं, उसके कुछ अन्दर नहीं, उसके कुछ बाहर नहीं, न वह कुछ भोगता है, न कोई उसको उपभोग करता है।

इसप्रकार अन्यत्र भी नेति नेति शब्दों से उसका वर्णन है यही मूर्त अमूर्त से परे ब्रह्म का अव्यक्त स्वरूप है, जैसाकि कहा है— "तदव्यक्तमाहहि" वह अव्यक्त है, जैसाकि श्रुति कहती है (३।२।२३)।

(१२) विधिमुख शब्दों से शुद्ध का वर्णन।

शुद्ध का स्वरूप बोधन करने के लिये शुद्ध, सत्य, ज्योतिः, ज्ञान और आनन्द शब्द वा इन्हीं के पर्याय वाचक शब्द ही विधिमुख शब्द प्रयोग किये जाते हैं, जैसे "शुद्धमपापविद्धम्" शुद्ध और पाप से न बींधा हुआ (ईश० ८) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ब्रह्म, सत्य, ज्ञान, और अनन्त है (तै० २।१।१)

"तच्छुभ्रंज्योतिषां ज्योतिः" वह शुभ्र ज्योतियों का ज्योति है (मुण्ड) "विज्ञान मानन्दं ब्रह्म"=ब्रह्म विज्ञान और आनन्द है (बृह० ३।९।२८) अथर्व वेद के स्कम्भ सूक्त में इसी को स्कम्भ कहा है।

होम और याग करने वाला जिस देवता को अपनी हवि समपर्ण करता है, वह व्यष्टिरूप में सर्वत्र ब्रह्म है, इसलिये उन २ देवताओं को उन २ कर्मों का जो फलदाता कहा है, वहां सर्वत्र ब्रह्म फलदाता है, उपासनाओं में भी वही एक सर्वत्र उपास्य देवता है, वही कर्म से आराधना किया जाता है, और वही उपासना से आराधना किया जाता है, और फल देने का सामर्थ्य भी उसी में है, जिस के अधीन हम सब का जन्म मरण और पालन पोषण है, और जो सारी सृष्टि पर राज्य करता है, उसके सिवाय और कोई फल देने में समर्थ नहीं है, सो कहा है "फलमत उपपत्तेः"=फल इस (ईश्वर) से मिलता है, क्योंकि (इसी से फल का मिलना) बनसक्ता है (वेदान्त ३।२।३८) श्रुति भी इसी को फलदाता बतलाती है, जैसाकि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विदः"=विज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म धन के दाता की परम गति और (एषणाओं से उठकर) दृढ़ खड़े हुए और उसको पहचानने वाले ज्ञानी की परम गति है (अर्थात् दाता को ऐश्वर्य देने वाला और ज्ञानी को मोक्ष देने वाला वही है) फल देने में वह हर एक को उसकी कमाई के अनुसार फल देता है, इसलिये उसमें विषमता नहीं आती, यह बात वैषम्यनैर्घृण्याधिकरण (२।१।३४-३६) में स्पष्ट कही गई है।

(१३) फल का दाता सर्वत्र ब्रह्म है।

ब्रह्म सारी शक्तियों से युक्त है, यह बात सर्वोपेताधिकरण में इस तरह वर्णन की गई है "सर्वोपेता च तद्दर्शनात" (२।१।३०)=और (वह परा देवता) सारी शक्तियों से युक्त है, क्योंकि (श्रुति में उसका वर्णन ऐसा) देखा जाता है। "सत्य संकल्पः" वह सत्य संकल्प है (छां० ३।१४।२) "सर्वकर्मा, सारी उसकी रचना है (छा० ३।१४।४)" यः सर्वज्ञःसर्ववित्" जो सब को जानता है और सब को समझता है (मुण्ड० १।१।९) "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इस अविनाशि के प्रशासन (ज़बरदस्त हुक्म) में हे गार्गि! सूर्य चन्द्र अपनी मर्यादा में खड़े हैं (बृह० ३।८।९) इस प्रकार की श्रुतियें दिखलाती हैं, कि परा देवता में सारी शक्तियों का सम्बन्ध है। "विकरणत्वान्नेतिचेत्तदुक्तम्" इन्द्रिय रहित होने से नहीं होसक्ता यदि ऐसा कहो, तो उसका उत्तर कहा हुआ है। अर्थात् यदि यह कहो, कि मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से जानता है, और कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है, इन दोनों प्रकार के इन्द्रियों के बिना चेतन आत्मा न जानसक्ता है, न ही कर्म करसक्ता है। इसी प्रकार परा देवता भी चेतन है और आत्मा है, इसलिये उसको भी जानने के लिये ज्ञानेन्द्रियों की और कर्म करने के लिये कर्मेन्द्रियों की अवश्य जरूरत है, पर उपनिषद् बतलाती है, कि— "अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः"=उसका न नेत्र है, न श्रोत्र है, न वाणी है, न मन है (बृह० ३।८) "नतस्य कार्यं करणं च विद्यते" न उसका शरीर है,न कोई इन्द्रिय है (श्वेता०

(१४) ब्रह्म सारी शक्तियों से युक्त है।

६।८) सो जब उसके इन्द्रिय ही कोई नहीं, तो वह सर्वशक्ति युक्त होकर भी किस तरह किसी कार्य के समर्थ होसक्ता है? तो इसका उत्तर भी उपनिषद् में पूरा खोलकर दे दिया है—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"=उसके पाओं नहीं, पर वह बड़े वेग वाला है (सब जगह पहुंचा हुआ है) उसके हाथ नहीं, पर वह सबको पकड़े हुए है, उसके नेत्र नहीं, पर वह सब कुछ देखता है, उसके कान नहीं, पर वह सब कुछ सुनता है (श्वेता० ३।१९) इसप्रकार यह श्रुति इन्द्रियों से रहित ब्रह्म में भी सारी शक्तियों का सम्बन्ध दिखलाती है। और यह कोई नियम नहीं है, कि जैसा एक का सामर्थ्य है, वैसा ही दूसरे का भी हो, सो यदि हम इन्द्रियों के विना काम नहीं करसक्के, तथापि परमात्मा करसक्ता है, यह उसका विलक्षण सामर्थ्य है। पर वास्तव में तो हमें भी किसी दूसरी वस्तु को हिलाने के लिये हाथ की आवश्यकता होती है, पर अपने हाथ को हिलाने के लिये किसी दूसरे हाथ की आवश्यकता नहीं होती, वह आत्मा की निजशक्ति से हिल सक्ता है, क्योंकि आत्मा उसके अन्दर सीधे तौर पर काम करसक्ता है। इसी प्रकार परमात्मा हरएक पदार्थ के अन्दर व्याप्त हुआ सीधे तौर पर उसमें क्रिया उत्पन्न करसक्ता है, उसको किसी इन्द्रिय की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसको किसी ऐसी जगह पर काम नहीं करना है; जिसके अन्दर वह अन्तर्यामी आत्मा के तौर पर स्वयं विद्यमान नहीं है। इसलिये वह निःसंदेह विना इन्द्रियों के सारे काम करने के समर्थ है, किञ्च दूसरी सारी शक्तियां उसकी शक्ति का आश्रय लेकर काम करती हैं, इसलिये वह सर्वशक्ति है।

जगत् का उपादान कारण माया वा प्रकृति है, जिसमे कि यह

(१५) माया और जीव सब उसके अधीन हैं।

इस जगत की रचना है, वह ब्रह्म के अधीन एक शक्ति है, और चेतन जीव भी सब ब्रह्मके अधीन हैं, वह इन सब का अधिपति है, जैसाकि कहा है "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देवएकः। तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"=प्रकृति परिणामिनी (बदलने वाली) है, पुरुष अपरिणामी है, इस प्रकृति और पुरुष पर वह एक देव राज्य करता है, उसके ध्यान से, उसमें जुड़ जाने से, हां उसमें तन्मय होजाने से, फिर अन्त में सारी माया हट जाती है (श्वे० १।१०) "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः"=प्रकृति और पुरुष का मालिक है और गुणों पर राज्य करता है (श्वे० ६।१६)।

माया इस जगत् का उपादान कारण है इसी को प्रकृति

(१६) माया।

वा प्रधान कहते हैं, वेदान्त प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में इसका विचार है।

(१७) जीव।

इस देह में चेतन शक्ति जीव है, वह इस देह से अलग है।

जीव नित्य है, न वह जन्मता है, न मरता है, जैसाकि कहा है

(१८) जीव नित्य है।

"नात्माऽश्रुते र्नित्यत्वाच्चताभ्यः" (२।३।१७)आत्मा (जन्मता मरता) नहीं, क्योंकि (उसका जन्म मरण कहने वाली कोई) श्रुति नहीं, प्रत्युत श्रुतियों से नित्य सिद्ध होता है "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते"=जीव से छोड़ा हुआ यह (शरीर) मरता है, न

कि जीव मरता है (छां० ६।११।३) "न जायते म्रियते वा विपश्चित्"=जीवात्मा न जन्मता है, न मरता है (कठ० २। १८) सो आत्मा जब नित्य है, तो जन्म मरण से तात्पर्य शरीर का ग्रहण करना और छोड़ना ही होसक्ता है, जैसाकि श्रुतिने स्वयं स्पष्ट किया है "सवा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः...स उत्क्रामन् म्रियमाणः" यह पुरुष जब जन्मता है अर्थात् शरीर को ग्रहण करता है....जब मरता है अर्थात् शरीर से निकलता है (बृह० ४।३।८)।

(१८) जीव अणु है।

जीव अणु है, क्योंकि "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (२।३।१९) निकलना (इस शरीर से), जाना (परलोक में) और आना (इस लोक में) अणु में बनसक्ते हैं, विभु में नहीं, और जो मध्यम परिमाण वाला है, वह नित्य नहीं होसक्ता, इसलिये जीव अणु ही है। "स्वशब्दोन्मनाभ्यां च" (२।३।२२) अपने शब्द और माप से भी आत्मा अणु है। जीवात्माके विषयमें अणु शब्द कहा ही है "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश"=यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है, जिस में प्राण पांच प्रकार से (पांच इन्द्रियों के रूप में) प्रविष्ट हुआ है (मुण्ड० ३।१।९) यहां इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीव को ही अणु कहा है। और "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवःसविज्ञयः"=बाल की नोक का जो सवां भाग है, वह सौ टुकड़े किया हुआ हो, उसका एक भाग जीव को जानना चाहिये (श्वे० ५।९) यह जीव का जो माप दिखलाया है, इससे भी अणु सिद्ध होता है (देखो

जीवपरिमाणाधिकरण २।३।१९-३२)।

"कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" कर्ता है, शास्त्र के प्रयोजन

(२०) जीव कर्ता है। वाला होने से (२।३।३३) श्रुति के अनुसार जीवात्मा कर्ता सिद्ध होता है, क्योंकि कर्ता होने पर "यजेत" याग करे "जुहोति" होम करे "दद्यात्" दान देवे, इत्यादि विधि शास्त्र, और "न सुरां पिबेत्" "सुरा न पिये" इत्यादि निषेध शास्त्र प्रयोजन वाला बनसक्ता है, अन्यथा विधि निषेध शास्त्र निष्प्रयोजन हो, जब वह कर्ता ही नहीं, तो कर्तव्य का उपदेश उसके लिये क्यों हो। और श्रुति साक्षात् उसको कर्ता भी बतलाती है "एष हि द्रष्टा श्रोतामन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" यह विज्ञानात्मा पुरुष देखने वाला, सुनने वाला, सोचने वाला, समझने वाला, करने वाला है (प्रश्न ४।९)

(२१) जीव के स्वरूप में कोई भेद नहीं।

जीव जैसा मनुष्य में है, वैसा ही कीड़ी में है, उसके स्वरूप में को भेद नहीं, क्योंकि वही जीव अपनी खोटी खरी कमाई के अनुसार कीड़ी में और मनुष्य में जाता है, सो स्वरूप में भेद न होते हुए भी जो इतना बड़ा भेद होजाता है, वह जीव को अपने कर्मानुसार मिले हुए शरीर और इन्द्रियों के भेद से भेद होता है, अन्यथा कोई भेद नहीं।

(२२) जीव की कमाई।

निचली योनियों में जीव अपने कर्मों का फल ही भोगता है, वहां उसकी कोई नई कमाई नहीं होती, पर मनुष्ययोनि में आकर वह जो कुछ करता है, उसका जुम्मेवार होता है, क्योंकि यह उसकी कर्मयोनि है, यहां

आकर जो कुछ वह भले बुरे कर्म करता है, जो आराधन करता है, और जो ज्ञान उपार्जन करता है, वह सब उसकी कमाई होती है, और उसी के अनुसार उसको अगला जन्म मिलता है।

(२३) मरने के पीछे जीवकी स्थावर वा तिर्यग्गति।

तृण घास ओषधि वनस्पति यह सब स्थावर योनियां हैं, और अतीव सूक्ष्म कृमियों से लेकर जितने कीट पतंग पशु पक्षी हैं, वह सब तिर्यग्यानियां हैं इन सब में जीव का वास है। यह कौन जीव हैं? यही जो मनुष्य योनियों में वास करते हैं, उनके लिये कोई अलग जीव नहीं, जो मनुष्य से भिन्न प्रकार के हों, किन्तु यही जीव अपनी नीचता का फल वहां भोगते हैं। देखते हो, एक वह पुरुष हैं, जिनकी रुचि सदा पाप में रहती है, चाहे अपनी सिद्धि कुछ भी न हो, पर दूसरे का काम सिद्ध नहीं होने देंगे, यही उनकी रुचि है। मानो जगत् में परोपकार उनके लिये बना ही नहीं, हां अपकार में सदा तत्पर रहेंगे, एक तो इस प्रकार के महानीच होते हैं, और दूसरे वह होते हैं, जो सदा स्वार्थ में तत्पर रहते हैं, और स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों का हक छीनते रहते हैं, निदान इसप्रकार के लोग जिनके नीच कर्म्म तौल में बढ़े हुए हैं, वह अपना फल भोगने के लिए स्थावर और तिर्यग्योनियों में पड़ते हैं।

२४ मनुष्यगति

पर जिनके कर्म मिले जुले होते हैं, वह फिर सीधे मनुष्य योनि में आते हैं, जैसा कि कहा है, "उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्"=दोनों (मिले हुए पुण्य पाप) से ही मनुष्यलोक को (प्रश्न० ३।७)

अब दो गतियें पुण्यात्माओं की हैं, देवयान और पितृयाण।

२५ देवयाण और पितृयाण।

जो इस लोक में यथाविधि वैदिकयज्ञों का अनुष्ठान करते रहे हैं, वह मरकर चन्द्रलोक को जाते हैं, चन्द्रलोकही स्वर्गलोक है (मुण्ड० १।२।१०) जहां वह अपने सुकृतकर्मों को भोगकर फिर मनुष्य-लोक में वापिस आकर नया जन्म धारते हैं। चन्द्रलोक में जाने का मार्ग पितृयाण मार्ग कहलाता है। दूसरे वह पुण्यात्माजन हैं, जो उपासना द्वारा शबलब्रह्म को साक्षात् कर चुके हैं, वह मरकर ब्रह्म-लोक को जाते हैं। जहां से वह फिर इस कल्प में वापिस नहीं आते हैं। देवयान और पितृयाण का सविस्तर वर्णन छान्दोग्य ५।३ और बृहदारण्यक ६।२ और कौषीतकि १।२ में है। और वेदान्तदर्शन के तीसरे अध्याय के प्रथमपाद सारे में पितृयाण सम्बन्धी अनेकविध विचार दिखलाए हैं। और चौथे अध्याय के दूसरे, तीसरे पाद में देवयानमार्ग का सविस्तर वर्णन है।

२६ ब्रह्मलोक में पहुंच कर उसको परब्रह्म के दर्शन होते हैं

"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, सतेजासि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं हवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः, स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं, स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्रश्न० ५।५) जो इस तीन मात्रा (अ, उ, म) वाले अक्षर से परम पुरुष का ध्यान करे, वह तेज में, सूर्य में, सम्पन्न हुआ, जैसे सांप केंचुली से छूट जाता है, इसप्रकार वह पाप से छूटजाता है, उसे सामयन्त्र ब्रह्म-लोक (सत्यलोक) को ऊपर लेजाते हैं, और वह वहां जीवघन (सारे देवताओं का एक जीवन, हरिण्यगर्भ) जो सबसे परे है, उस

से भी परे जो परम पुरुष (परब्रह्म) सारे ब्रह्माण्ड में स्थित है, उसको देखता है। ब्रह्मलोक में पहुंचकर शुद्ध की प्राप्ति ४।३।१० में कही है

" कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् "

(ब्रह्मलोक में पहुंचकर) वह कार्य को उलांघकर उसकार्य से परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्य को भोगता है) क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है।

२७ मरने से पूर्व परब्रह्म के दर्शन

शबल स्वरूप की उपासना और दर्शन चित्त से होता है, पर शुद्ध स्वरूप चित्तकी पहुंच से परे है, जैसाकि कहा है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" = जहां से वाणियें मन के साथ बिन पहुंचे लौटती हैं ब्रह्म के उस आनन्द को अनुभव करता हुआ सर्वतो अभय होजाता है (तै०) सो चित्त की पहुंच शुद्धस्वरूप से वरे ही है, शुद्ध के दर्शन शुद्ध आत्मा (अर्थात् चित्त से निखरे हुए आत्मा) से होते हैं, पहले योगद्वारा आत्माका साक्षाद् दर्शन होता और फिर आत्मा स्वयं परमात्मा के दर्शन करता है, जैसा कि कहा है "यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम् । तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।१४ यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" जैसे कोई मट्टी से लिथरा हुआ रत्न, जब ठीक धोदिया गया है, तो वह तेजोमय होकर चमकता है, इसप्रकार (शुद्ध होकर चमकते हुए) आत्मतत्त्व को देखकर मनुष्य शोक से परे हुआ कृतार्थ होजाता हैं। १४। फिर जब युक्त होकर आत्मतत्त्व के दीपक से ब्रह्मतत्त्व

को देखता है, जो ब्रह्मतत्त्व, अजन्मा, अटल, और सारे तत्त्वों से शुद्ध है, तब वह इस देव को जानता हुआ सारी फांसों से छूट जाता है (१५। श्वेता० २) सारांश यह है, कि यदि ध्यान द्वारा शबल को साक्षात् करने के पीछे ध्यान को भी बन्द करके शुद्ध आत्मा पर पहुंच गए हैं, तो उस शुद्ध आत्मतत्त्व में यहीं ब्रह्मतत्त्व का साक्षात् होजाता है, और यदि शबल के साक्षात् में ही मग्न रहे, तो शुद्ध के दर्शन ब्रह्मलोक में जाकर होते हैं।

(२८) मुक्त जीवका ऐश्वर्य

मुक्त जीव सत्यकाम और सत्यसंकल्प होजाता है, इसलिये "संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः" उसके संकल्प से ही सब कुछ होजाता है, जैसाकि श्रुति कहती है "यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते, सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते" जिस २ अर्थ को वह प्यार करता है, जिसको चाहता है, वह इसके संकल्प से ही प्रकट होता है, और वह उससे सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है (छा० ८।२।१०)। अपनी कामना में संकल्प से भिन्न उसको किसी के अधीन नहीं होना पड़ता "अतएव चानन्याधिपतिः" इसलिये ही अपना आप ही वह अधिपति होता है "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" वह स्वराट् (स्वतन्त्र अधिपति) बन जाता है, उसका सब लोकों में यथेच्छाचार होता है (छां० ७।२५।२)।

२९ जगत् के रचने आदि को छोड़ कर उसका

(प्रश्न) जब मुक्त पुरुष सत्यसंकल्प है, तो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी उसके संकल्प के पीछे चलेंगे, तब कोई एक ईश्वर कर्ता धर्ता हर्ता नहीं

ऐश्वर्य होता है। ठहर सक्ता है (उत्तर) जगत् का रचना आदि जो ईश्वर के व्यापार हैं, उन में मुक्त जीव ईश्वर नहीं होता, जैसाकि जगद्व्यापाराधिकरणमें निर्णय किया है "जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" (४।४।१७) जगत् के व्यापार को छोड़कर, प्रकरण से और असन्निहित होने से॥ यह आशय है—जगत् को रचने और मर्यादा में रखने आदि के व्यापार को छोड़कर मुक्तों का ऐश्वर्य होता है, क्योंकि जहां कहीं जगत् की रचना आदि कही है, वहां ईश्वर का ही प्रकरण है, और मुक्त पुरुषों की वहां कोई सन्निधि नहीं। यह सत्य है, कि वह सत्यसंकल्प है, वह जो कुछ चाहता है, होता है, पर उसको ऐसी अनधिकारकामनाही नहीं होती। किञ्च "भोगमात्र साम्यलिंगाच्च" (मुक्त जीव का ब्रह्म के साथ) भोगमात्र की की समता का चिन्ह है, न कि रचने आदि का "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है (तै० २। १)।

---

*वेदान्त के विषयोंका सविस्तर वर्णन और श्रीशंकराचार्य्यादिके सिद्धान्तों का वर्णन "उपनिषदों की भूमिका" में कर दिया है, इसलिए यहां संक्षेप से लिखा है।

—:-०-:—

करो। यहां से आपको ऋषियों के वह अध्यात्म उपदेश मिलेंगे, जिनको पढ़कर आनन्द से भरा हुआ आपका हृदय सचमुच रत्नों से बहुमूल्य समझेगा, वह रत्न यह हैं— (ब्रह्म विद्या के भंडार)

(१) उपनिषदों की भूमिका—इसमें उपनिषदों के हर एक विषय का संक्षेप के साथ सरल रीति पर पूरा वर्णन है। और उपनिषदों के विषय में जो भिन्न २ आचार्यों के सिद्धान्त हैं, अर्थात् अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत, इनका भी पूरा वर्णन है। पुस्तक बड़े काम की है। मूल्य ।)॥

(२) उपनिषदों की शिक्षा—इसमें हर एक विषय पर उपनिषदों में से वाक्य चुन चुन करके विस्तार से उस विषय को खोला गया है। यह मानों उपनिषदों में से संग्रह होकर एक नई उपनिषद् बन गई है, जिसको पढ़कर पुरुष बड़ा आनन्द लाभ करता है—

इसके चार भाग हैं—(१) पहला भाग—परमात्मा के वर्णन में मूल्य ॥=) (२) दूसरा भाग—आत्मा और पुनर्जन्म के वर्णन में मूल्य ॥) (३) तीसरा भाग—मरने के पीछे की अवस्थाओं के, कर्म और चरित के, और सामाजिक जीवन के वर्णन में मूल्य ॥) (४) चौथा भाग—उपासना, उपासना के फल, और मुक्ति के वर्णन में मूल्य ॥=)

(३) ग्यारह उपनिषदें—(१) ईश =) (२) केन ≡)॥ (३) कठ ।=) (४) प्रश्न ।) (५-६) मुण्डक और माण्डूक्य ।-) (७) तैत्तिरीय ।≡) (८) ऐतरेय ≡) (९) छान्दोग्य २) (१०) बृहदारण्यक २=) (११) श्वेताश्वतर ।)॥ ग्यारह इकट्ठी खरीदने में ५॥=) पहली आठ इकट्ठी लेने में १॥≡)

(४) वेदोपदेश—इसमें वेद संहिताओं के अन्दर जो परमात्मा के स्वरूप का निरूपण है, उसका वर्णन है मूल्य ।॥)

(५) दर्शनशास्त्र--(१) नवदर्शन संग्रह—इसमें चारवाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त, इन नौ दर्शनों के सिद्धान्तों का पूरा वर्णन है। अपने विषय में यह ग्रन्थ एक नए ढंग का बहुत बड़ा उपयोगी है मूल्य १) **(२) योगदर्शन भाष्य** ।।।) **(३) वेदान्त दर्शन भाष्य** दो जिल्दों में-पहली जिल्द १।।।=) दूसरी जिल्द १।।।=) दोनों जिल्दें इकट्ठी खरीदने में ३।।)

(६)गृह्यसूत्र--[१] पारस्कर गृह्यसूत्र—पारस्कराचार्य रचित गृह्यसूत्रों का भाष्य। हमारे विवाहादि कर्म जिसके अनुसार होते हैं, वह यह गृह्यसूत्र हैं। सो इसमें विवाहादि संस्कारों की पञ्च-महायज्ञों की और दूसरे धर्म कार्यों के करने की विधि बतलाई गई है। संस्कारों में जो मन्त्र आते हैं, उनके अर्थ और हवाले भी हमने साथ साथ दे दिये हैं। और विवाहादि की पद्धतियां ऐसी समझा कर लिखी गई हैं, कि इस भाष्य को हाथ में लेकर कर्मकाण्ड न सीखा हुआ पुरुष भी सारे कर्म ठीक २ करा सक्ता है। मूल्य केवल १।।)

(७) धर्मोपदेश--(१) वासिष्ठधर्मसूत्र—महर्षि वसिष्ठ के धर्म उपदेश।) **(२) उपदेशसप्तक**—वेदादि सत् शास्त्रों के आधार पर धर्म के उपदेश।-) **(३) प्रार्थना पुस्तक** -) **(४) ओंकार की उपासना** -) (५) वेद और रामायण के उपदेश-रत्न -) (६) वेद और महाभारत के उपदेशरत्न -)(७) वेद, मनुस्मृति और गीता के उपदेशरत्न -)। (८) तप और दीक्षा)।।

(८) जीवनी—स्वामी शंकराचार्य का जीवनचरित्र—कुमारिल भट्टाचार्य और मण्डनमिश्र का जीवन चरित्र भी साथ है ।।)

पता--पण्डित राजाराम—

सम्पादक आर्षग्रन्थावलि लाहौर।